महर्षि दयानन्द की पद-प्रयोग-शैली

अर्थात्

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रयुक्त पदों का साधुत्व-विवेचन

लेखक—
पं० युधिष्ठिर मीमांसक

:ओ३म्:—

महर्षि दयानन्द की पद प्रयोग-शैली

अर्थात्

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रयुक्त पदों का साधुत्व-विवेचन

लेखक—

युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़,
जिला सोनीपत (हरियाणा) १३१०२१

मुद्रक—

नरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, बहालगढ़

द्वितीयवार ५०० } मार्गशीर्ष, सं० २०५२ वि० नवम्बर १९९५ ई० { मूल्य १६.००

प्रकाशकीय

स्वर्गीय पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने यह महत्त्वपूर्ण पुस्तिका महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट, टङ्कारा में कार्य करते हुए तैयार की थी। इस ट्रस्ट की स्थापना ७ मार्च १९५९ को सेठ नानजीभाई कालीदास महता के डेढ लाख रुपये के दान से मोरवी राजप्रासाद में हुई थी। ट्रस्ट के पहले प्रधान सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री मेहरचन्द महाजन बनाये गए और मन्त्री बनाये गए थे—आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा के अध्यक्ष पं० आनन्दप्रिय। इस ट्रस्ट के अन्तर्गत अनुसन्धान विभाग की स्थापना की गई। श्रद्धेय श्री मीमांसक जी से अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष पद को संभालने की प्रार्थना पं० आनन्दप्रिय ने की। यद्यपि श्री मीमांसक जी उस समय अस्वस्थ थे, तथापि उन्होंने किन्हीं कारणों से इस पद को स्वीकार कर लिया। वे जून १९५९ में टङ्कारा पहुंच गये और अपने सहायक के रूप में पं० धर्मदेव निरुक्ताचार्य को टङ्कारा बुला लिया।

ऋषि दयानन्द के समस्त ग्रन्थों में दिये गये सन्दर्भों की सूची-निर्माण से कार्य प्रारम्भ हुआ। लगभग एक लाख चिटें तैयार करके अकारादि क्रम से प्रेस-कापी बनानी आरम्भ की गई। उसी समय पंजाब की शास्त्री परीक्षा में नियत ऋषि दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य को प्रकाशित करने का निर्णय किया गया। ऋषि दयानन्द के भाष्य में पचासों ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जिनको आधुनिक वैयाकरण अशुद्ध मानते हैं। अतः श्री मीमांसक जी ने ऐसे प्रयोगों का संकलन एवं वर्गीकरण करके पाणिनीय व्याकरण से साधुत्व दर्शाने का गम्भीर प्रयास किया। फलस्वरूप इस महत्त्पूर्ण पुस्तिका 'ऋषि दयानन्द की पद प्रयोग शैली' की रचना हुई।

सन् १९६१ में उपर्युक्त 'सन्दर्भ-सूची' अकारादि क्रम से टङ्कारा पत्रिका में प्रकाशित कराने की व्यवस्था की गई। सन्दर्भ-सूची में श्री पण्डित जी ने टिप्पणियां दी थीं। उन में ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के विभिन्न संस्करणों में पाठ बदले जाने की सूचना देना भी स्वाभाविक एवं अनिवार्य था। टङ्कारा पत्रिका अजमेर के वैदिक यन्त्रालय में छपती थी। टिप्पणियों से परोपकारिणी सभा के अधिकारी क्षुब्ध हो गये। परिणामतः सन्दर्भ-सूची का प्रकाशन बन्द हो गया। श्रद्धेय पण्डित जी रुग्ण तो रहते ही थे। टङ्कारा का जलवायु भी अनुकूल नहीं था। कुछ विघ्न सन्तोषी आर्य विद्वान् (?) उनके टङ्कारा ट्रस्ट में रहने को पचा नहीं पा रहे थे। अतः सन् १९६२ में श्री मीमांसक जी ने टङ्कारा ट्रस्ट से त्यागपत्र दे दियो।

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तिका प्रथम वार सन् १९६० के आरम्भ में ऋषि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टङ्कारा से प्रकाशित हुई। इसके प्रकाशन से विद्वज्जगत् में महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य के प्रति आस्था उत्पन्न हुई। जिन प्रयोगों को साधारणतः अशुद्ध समझा जाता था उनका शास्त्रीय साधुत्व स्वीकार किया गया। चिरकाल से यह ग्रन्थ-रत्न दुर्लभ हो गया था। रामलाल कपूर ट्रस्ट ने इसके महत्त्व को समझते हुए इसे पुनः प्रकाशित किया है। आशा है, ऋषि भक्त, सिद्धान्त-प्रेमी और निष्पक्ष शोध में प्रवृत्त विद्वान् श्रद्धेय श्री मीमांसक जी की इस अनुपम कृति से लाभ उठायेंगे।

विजयपाल विद्यावारिधि

बहालगढ़
२८ नवम्बर १९९५

ओ३म्

भूमिका

(ले०–प्रो० श्री देवप्रकाश पातञ्जल, शास्त्री, एम. ए., व्याकरणाचार्य, निरुक्ताचार्य, अध्यक्ष—संस्कृत विभाग आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ोदा)

महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट के अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष महा-वैयाकरण श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित "महर्षि दयानन्द की पद प्रयोग शैली" नामक पुस्तक का मैंने आद्योपान्त अध्ययन किया। इस छोटी सी पुस्तिका में साक्षात् कृतधर्मा महर्षि दयानन्दजी सरस्वती द्वारा स्वलिखित वेदभाष्य आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त विभिन्न पदों के साधुत्व पर तुलनात्मक ढंग से विवेचन किया गया है। इस पुस्तिका से उन लोगों का भ्रम सर्वतोभावेन दूर हो जाएगा जो लोग यह मानते हैं कि स्वामीजी महाराज ने पाणिनीय व्याकरण नियमों का बहुत उल्लङ्घन किया है दूसरे शब्दों में स्वामीजी महाराज ने अपाणिनीय पदों का प्रयोग किया है।

पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने स्वामीजी द्वारा प्रयुक्त ५०-६० विशिष्ट पदों का वर्गीकरण करके उन्हें १६ विभागों में विभक्त किया है। यदि स्वामीजी के सभी पदों पर इसी प्रकार विचार किया जाए तो इस वर्गी-करण की संख्या में कुछ और वृद्धि होगी। इस ग्रन्थ को देखकर मेरा यह निश्चित विचार हो गया है कि टङ्कारा ट्रस्ट को एक ऐसी स्वतन्त्र पुस्तक प्रकाशित करनी चाहिए। जिसमें यथासम्भव सभी प्रकार आर्ष प्रयोगों की विवेचना हो।

भारतीय परम्परा में वेदार्थ के मूल स्तम्भ स्वरूप साधनों का निरूपण पद्धतियों के आधार पर किया गया था। जैसे सायणाचार्य आदि का भाष्य प्रायः याज्ञिक पद्धति पर आधृत है और सायण आदि ने अपने वेदभाष्यों में विभिन्न साधनों का उपयोग किया है उसी प्रकार महर्षि दयानन्द द्वारा जो वेदभाष्य रचा गया है उसका मुख्य आधार नैरुक्त प्रक्रिया है। ऋषि ने अपने वेदभाष्य में जिन अनेक साधनों का प्रयोग किया है उनमें निरुक्त व्याकरण तथा ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्य हैं। ऋषि द्वारा नैरुक्त प्रक्रिया के आधार पर रचित वेदभाष्य से जगत् के अन्य भाष्यकारों में क्रान्ति मच गई।

अपने मन्तव्यों का वचाव करने के लिए स्वामीजी के वेदभाष्य पर लोगों ने दोषारोपण करना प्रारम्भ किया। और विभिन्न पद्धतियों (याज्ञिक-भाषाविज्ञान-माईथोलोजी आदि) के आधार पर वेदभाष्य रचने वाले ग्रन्थकारों ने कहना आरम्भ किया कि स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य वैज्ञानिक नहीं है। मैं कहता हूं कि वेदों पर जो नवीन अनुसन्धान हो रहा है और भविष्य में होगा उससे निकट भविष्य में ही सवको पता लग जाएगा कि स्वामीजी महाराज द्वारा रचित भाष्य ही वैज्ञानिक भाष्य है, अन्यों द्वारा रचित सभी भाष्य त्रुटिपूर्ण हैं। ऋषि दयानन्द के वैज्ञानिक भाष्य को समझने के लिए तथा इस वैज्ञानिक भाष्य की दिशा में आगे काम करने के लिए जहां यह प्रस्तुत पुस्तिका मार्गदर्शिका का काम करेगी वहां पाणिनीय व्याकरण के वास्तविक स्वरूप के परिज्ञान में भी परम सहायक होगी। मैं समझता हूं इस पुस्तिका से ऋषि दयानन्द द्वारा प्रयुक्त सभी प्रकार के पदों पर साधुत्व हो सकने वाले सभी आक्षेपों का वैज्ञानिक उत्तर हो जाता है।

वर्तमान में वैदिक साहित्य तथा लौकिक साहित्य से व्याकरणशास्त्र का सम्वन्ध नितान्त विच्छिन्न कर दिया गया है। व्याकरणशास्त्र से वैदिक और लौकिक साहित्य के एक एक पद को समझने के लिए जो सहायता ली जा सकती है, वह नहीं ली जाती। यही कारण है कि व्याकरणशास्त्र सम्प्रति साधन न रहकर स्वयं साध्य वन चुका है। लोग व्याकरण को व्याकरण के लिए पढ़ते हैं न कि वैदिक लौकिक साहित्य समझने के लिए। यही कारण है कि केवल व्याकरण के अध्येताओं की ओर से स्वामी दयानन्द जी महाराज के पदप्रयोगों पर आक्षेप किए जाते हैं। दूसरी न्यूनता व्याकरणशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन की है। सम्प्रति जो लोग व्याकरण पढ़ते हैं वे लोग किसी एक ही व्याकरण को पढ़ते हैं। इसलिए इन लोगों को व्याकरणशास्त्र के महत्व का परिज्ञान नहीं होता और यही कारण है कि आधुनिक वैयाकरणों को **व्यत्ययो बहुलं**, बहुलं छन्दसि तथा **सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते** नियमों का यथार्थ वोध नहीं होता। ऋषि दयानन्द जी महाराज केवल पाणिनीय व्याकरण के ही विशेषज्ञ नहीं थे, उन्होंने समस्त उपलब्ध व्याकरणों का साङ्गोपाङ्ग मन्थन किया था। इसलिए उनके पदप्रयोगों को यथार्थ रूप में समझना वर्तमान के अवैज्ञानिक रूप से पठित वैयाकरणों के लिए सर्वथा असम्भव है। पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक न केवल पाणिनीय व्याकरण के ही विद्वान् हैं अपितु इन्होंने कातन्त्र,

चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, हैम, जौमर आदि अनेक व्याकरणों का तुलनात्मकरूप से गम्भीर अध्ययन किया है। अतएव वे ऋषि दयानन्द की पदप्रयोग शैली को यथार्थ रूप में समझने में समर्थ हो सके और उन्होंने स्वामीजी द्वारा प्रयुक्त कतिपय विशिष्ट प्रयोगों का इस पुस्तिका में रहस्योद्घाटन किया। उनके इस प्रयत्न से सम्पूर्ण आर्ष प्रयोगों के साधुत्व परिज्ञान का मार्गनिर्देश भी भली प्रकार हो जाता है।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने इस पुस्तिका में पाणिनीय सूत्रों की जो वैज्ञानिक व्याख्या दर्शाई है, उससे वैयाकरणों को पाणिनीय सूत्रों के यथार्थ महत्व का परिज्ञान होगा। अब लोग समझेंगे कि **सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते** इस परिभाषा का महर्षि पतञ्जलि ने निर्देश करके अपने अद्भुत वेदज्ञान का परिचय दिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वामीजी महाराज द्वारा प्रयुक्त शब्दों की तुलना महर्षि वाल्मीकि और महर्षि व्यास तथा अन्य महर्षियों के वाङ्मय से की है। इससे तथ्य प्रमाणित होता है कि स्वामीजी की सभी वृत्तियों को रामायण महाभारत तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों के साथ रखकर देखा जाए तो स्वामीजी ने अपाणिनीय पदों का प्रयोग किया है यह आक्षेप ही नहीं उठता। स्वामी जी स्वयं कहा करते थे कि मैं तो उस युग का व्यक्ति हूं जिस युग में आदम और हौवा पैदा हुए थे (अर्थात् आदि युग का)। स्वामीजी ऋषि थे। इसलिए उनके द्वारा रचित जो भी ग्रन्थ हैं, वे सभी आर्ष हैं। इसलिए स्वामीजी के ग्रन्थों का विवेचन भी रामायण महाभारत आदि आर्ष ग्रन्थों के समान ही होगा।

जब वैयाकरण लोग पाणिनीय सूत्रों की इस पुस्तिका में निर्दशित व्याख्या तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों की तुलना द्वारा स्वामीजी महाराज के द्वारा प्रयुक्त पदों पद गम्भीर विचार करेंगे, तभी विद्वानों को परिज्ञान होगा कि महर्षि दयानन्द सरस्वती व्याकरणशास्त्र तथा अन्य ग्रन्थों के कितने ममज्ञ तथा अभ्यासी थे। पाणिनीय व्याकरण अष्टाध्यायी को कण्ठस्थ कर व्याकरण के सूर्य गुरुवर दण्डी विरजानन्द से साङ्गोपाङ्ग अष्टाध्यायी और महाभाष्य का अध्ययन करनेवाले स्वामी दयानन्दजी महाराज के विषय में यह कहना कि उन्होंने **जाययति धत्तः धत्तवान् दृंहते बृंहते हर्षन्ताम्** आदि अशुद्ध पदों का प्रयोग किया है ऐसा केवल शुष्क वैयाकरण लोग ही कह सकते हैं। ऋषि दिन रात ब्रह्म में विचरण करने वाले थे, तथा दिन रात वेद और आर्ष ग्रन्थों के चिन्तन में लगे रहते थे।

इसलिए उन्होंने इन सभी आर्ष ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों का ही स्वलिखित ग्रन्थों में प्रयोग किया। इससे स्वामीजी का ऋषित्व ही प्रकट होता है।

दूसरी बात यह है कि कोई भी व्याकरण ग्रन्थ लक्ष्य-ग्रन्थ नहीं है; अपितु लक्षण ग्रन्थ है। इतना ही नहीं, कोई भी व्याकरण शब्दों का परिगणन नहीं करता वह तो उदाहरण मात्र का निर्देश करता है। इस सिद्धान्त से यदि अष्टाध्यायी को देखा जाए तो अष्टाध्यायी में संगृहीत लगभग ४००० चार सहस्र सूत्र ही वैदिक पदों को समझने लिए **सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते** इस एक परिभाषा से न्यूनाति न्यून द्विगुणित अर्थात् ८००० आठ सहस्र हो जाते हैं। जब पाणिनि के चार सहस्र सूत्रों से ही समस्त संस्कृत वाङ्मय के पद सिद्ध हो जाते हैं तो यह कहूंगा कि पूर्व नियम से द्विगुणित पाणिनि के आठ सहस्र सूत्रों से संसार की सभी भाषाओं के शब्द तुलनात्मक पद्धति से अनुसन्धान होने पर सिद्ध होंगे और तभी स्वामी दयानन्द की **वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है** इस पङ्क्ति का महत्त्व तथा गम्भीरता का परिचय मिलेगा।

स्वामीजी ने **जापयति** आदि के स्थान में **जाययति** पदों का जो प्रयोग किया है इसका तात्पर्य लोग यही समझते होंगे कि स्वामीजी को **क्रीङ्-जीनां णौ** (६।१।४७) सूत्र याद नहीं था। ऐसे लोगों से मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूं "जिज्ञासु-पद्धति" से पढ़ने वाले बच्चों से भी आप निद्रा-वस्था में भी पूछकर देखलें वह अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों का सिद्धि-साधनिका सहित पाठ कर देगा। जब बच्चों को भी इस प्रकार सूत्र स्मरण रहते हैं तब ऋषि दयानन्द को सूत्र स्मरण नहीं था कहना दुस्साहस मात्र है। वे सूत्रों के द्रष्टा होने से ऋषि थे। द्रष्टा सदा स्वप्रत्ययनेय होता है और स्मर्ता परप्रत्ययनेय। यही द्रष्टा और स्मर्ता का मौलिक भेद है। इस लिए ऋषि पर उपर्युक्त प्रकार के आक्षेप करने से पूर्व उनके व्यक्तित्व को भली प्रकार जान लेना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तिका से एक और समस्या का भी समाधान हो जाता है। पाश्चात्य वैदिक अनुशीलन करने वाले मैक्डोनल आदि का यह विचार था एवं आज भी पाश्चात्य पद्धति से वेदों का अनुशीलन करनेवालों का निश्चित मत है कि अष्टाध्यायी वेद का व्याकरण नहीं है केवल लौकिक भाषा का व्याकरण है। अर्थात् पाणिनीय अष्टाध्यायी से ऋग्वेद आदि के पदों के साधुत्व का परिज्ञान नहीं हो सकता। यह शकुन्तला आदि नाटकों तथा रघुवंश आदि काव्यों में प्रयुक्त पदों के साधुत्व का परिज्ञान ही करा सकता

है। इसलिए मैकडोनल के तुलनात्मक भाषा विज्ञान का आश्रय लेकर वैदिक ग्रामर (जिसका मूल्य प्रति सम्प्रति १०० रुपया है) लिखा। आज समस्त जगत् में वेदों का अनुशीलन करने वाले उसी वैदिक ग्रामर को पढ़ते हैं। परन्तु पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने यह छोटी सी पुस्तिका लिखकर इस दिशा में भी महत्त्वपूर्ण संकेत किया है। इस पुस्तिका में निर्दशित वैज्ञानिक रीति से पाणिनीय अष्टाध्यायी की व्याख्या होने से मैकडोनल प्रभृति का भ्रम दूर हो जाता है और पाणिनीय अष्टाध्यायी वेद का भी पूर्ण व्याकरण है, भली प्रकार सिद्ध हो जाता है। मेरी इच्छा है कि इस वैज्ञानिक व्याख्या के आधार पर एक तुलनात्मक वैदिक व्याकरण टङ्कारा ट्रस्ट से प्रकाशित किया जाए।

वस्तुतः पाश्चात्त्य विद्वानों के वेदार्थ के आधार चार हैं—(१) वैदिक साहित्य का इतिहास (२) तुलनात्मक भाषा विज्ञान, (३) तुलनात्मक मंथोलोजी और (४) वैदिक व्याकरण। ट्रस्ट द्वारा इस प्रकार के अनुसन्धान से इन चारों स्तम्भों को ही भविष्य में धराशायी होना पड़ेगा और तभी वेदों का प्रचार तथा स्वामी दयानन्द जी महाराज के सिद्धान्त दिग् दिगन्त में प्रचारित तथा प्रसारित होंगे।

अन्त में मैं महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट को विद्वानों की ओर से धन्यवाद देता हूं जिसने पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक जैसे प्रकाण्ड पण्डित को अपने अनुसन्धान विभाग का अध्यक्ष बनाया है तथा ऋषि के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए कटिबद्ध है। साथ ही यह आशा करता हूं कि पाठकगण इस पुस्तक से अवश्य ही लाभ उठाएंगे।

१-२-१९६० विद्वानों का सेवक
बड़ोदा देवप्रकाश पातञ्जल

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

विवेच्यमान पदों की सूची

—: ओ३म् :—

अपाणिनीय-पद-विमर्श

अर्थात्

ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य आदि में

प्रयुक्त कतिपय अपाणिनीय पदों पर विचार

ऋषि दयानन्द सरस्वती के वेद-भाष्य आदि ग्रन्थों के संस्कृत भाग में लगभग २००-२५० ऐसे पद प्रयुक्त हैं, जिन्हें साम्प्रतिक वैयाकरण असाधु अथवा अपशब्द समझते हैं। हम उनके साधुत्व का सामान्य रूप से परिज्ञान कराने के लिए लगभग ५०-६० प्रयोगों पर इस पुस्तिका में विचार करते हैं।

विचार्यमाण शब्दों के साधुत्व के विषय में क्रमशः लिखने की अपेक्षा उनका वर्गीकरण करके लिखना अधिक लाभदायक होगा। इसलिये हम उन प्रयोगों का वर्गीकरण करके उनको निम्न विभागों में विभक्त करते हैं—

धातु-सम्बद्ध पद—

१—अपठित धातु का प्रयोग।
२—आत्मनेपद परस्मैपद का अस्थान में प्रयोग।
३—गण-अपठित प्रयोग।
४—स्वार्थिक णिच् का अभाव।
५—ल्यप् आदेश का अभाव तथा प्रत्ययान्तर कल्पना।
६—धातुस्थ अनुनासिक लोप का अभाव।
७—अस्थान में णिलोप।
८—अस्थान में इट् का आगम तथा उसका अभाव।
९—अप्रयोज्य क्रियापद का प्रयोग।

नाम-सम्बद्ध पद—

१०—असिद्ध प्रातिपदिक का प्रयोग।
११—असिद्ध विभक्ति-रूप का प्रयोग।
१२—अन्य विभक्ति के स्थान में अन्य विभक्ति का प्रयोग।
१३—समानवाक्य में विभक्ति भेद।
१४—लिङ्गभेद।

१५—अस्थान में समासान्त आदि कार्य अथवा उनका अभाव।

१६—भाव विशिष्ट अर्थ में मूल प्रातिपदिक का प्रयोग।

इस प्रकार वर्गीकरण करके पूर्व संकेतित पदों के साधुत्वज्ञापन में जहां हमें सुगमता होगी (एक ही हेतु को बार-बार दोहराना न पड़ेगा), वहां पढ़नेवालों को भी समझने में सरलता होगी। इतना ही नहीं, इस प्रकार वर्गीकरण करके असाधु समझे जाने वाले प्रयोगों पर प्रकाश डालने से रामायण-महाभारत आदि समस्त आर्ष वाङ्मय में प्रयुक्त इन जैसे सहस्रों पदों के साधुत्व का ज्ञान भी अनायास हो जाएगा।

साधुत्व ज्ञापन के प्रकार

किसी प्रयोग के साधुत्व के दो प्रधान प्रकार हैं—

१—प्राचीन-शिष्ट-प्रयोग-निदर्शन।[१]

२—पाणिनीय आदि व्याकरण शास्त्रों का अनुगमन।[१]

इसमें से प्राचीन शिष्ट प्रयोगों का निदर्शन तत्तत् शब्दों के साधुत्व ज्ञापन में मुख्य प्रमाण है। महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं—

"यदि तर्हि शिष्टाः शब्देषु प्रमाणं, किमष्टाध्याय्या क्रियते ?
शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी। ६।३।१०९॥

अर्थात्—यदि शिष्टपुरुष ही शब्दों के साधुत्व विषय में प्रमाण हैं, तो अष्टाध्यायी से क्या किया जाता है ? (=अष्टाध्यायी का क्या प्रयोजन है?) [उत्तर] शिष्टों के परिज्ञान के लिये अष्टाध्यायी है।

यह है शिष्ट-प्रयोगों के विषय में वैयाकरणवाङ्मय के प्रमाणीभूत आचार्य पतञ्जलि की सम्मति। परन्तु आजकल के लक्षणैकचक्षुः वैयाकरण रामायण-महाभारत आदि आर्ष वाङ्मय में प्रयुक्त जिन शिष्ट आर्ष प्रयोगों के परिज्ञान के लिये भगवान् पाणिनि ने अपने शास्त्र का प्रवचन किया, न केवल उन शिष्ट प्रयोगों को ही असाधु कहते हैं, अपितु वे भगवान् पाणिनि के सूत्रपाठ में प्रयुक्त पचासों प्रयोगों को भी असाधु=अपशब्द कहने से नहीं

१. ऋषि दयानन्द की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' और 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' के कतिपय प्रयोगों को तात्कालिक पण्डितों (गुरुप्रसाद-हृषीकेश-भगवानदास-महेशप्रसाद अम्बिकादत्त व्यास) ने अशुद्ध बताया था। उनके साधुत्व-प्रतिपादन के लिये ऋषि दयानन्द ने उपर्युक्त दोनों प्रकारों का आश्रय लिया था। प्रथम प्रकार के लिये देखिये 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' (द्वि० सं०) पृष्ठ २२२ पर छपा 'पुस्तक अबोध-निवारण की अशुद्धियां' लेख और द्वितीय प्रकार के लिये वही पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ६२, ६३।

चूकते। उनके मत में भगवान् पाणिनि पर 'घोटकारूढस्य घोटक एव विस्मृतः' आभाणक पूर्णतया चरितार्थ होता है। इसलिये शब्दसाधुत्व विषय में शिष्ट-प्रयोग-निदर्शन के मुख्य प्रमाण होने पर भी, हम उसे सहायक रूप से ही अपनाएंगे। अर्थात् केवल शिष्ट-प्रयोग-निदर्शन मात्र से किसी पद के साधुत्व का प्रतिपादन नहीं करेंगे।

व्याकरणानुगमन द्वारा साधुत्व प्रतिपादन के निम्न प्रधान प्रकार हैं—

१. प्रकृत्यन्तर-सद्भाव को द्योतित करना।

२. प्रत्ययान्तर-सद्भाव को द्योतित करना।

३. गण[1]कार्य के उपलक्षणत्व को प्रकट करना।

४. प्रयोक्ता के अभिप्राय का अन्य प्रकार से ज्ञापन होने पर तद्वाचक अंश के प्रयोग की अविवक्षा।

व्याकरण-शास्त्र का अनुगमन करते हुए शिष्ट-प्रयोगों के साधुत्व प्रतिपादन के जो चार प्रकार लिखे हैं, उन पर कुछ लिखने से पूर्व पाणिनीय व्याकरण की व्याख्या के सम्बन्ध में कुछ संकेत करना आवश्यक है। क्योंकि उससे प्रकृत विचार में महती सहायता मिलेगी।

पाणिनीय शास्त्र की वर्तमान व्याख्या

सबसे प्रथम विद्वन्महानुभावों का ध्यान हम इस ओर आकर्षित करना चाहते हैं कि पाणिनीय व्याकरण की जो व्याख्या विक्रम की ४थी शती से लेकर आज तक की जाती है, वह नितान्त दूषित है। इस व्याख्या को प्रमाण मानने से जहां प्राचीन प्रामाणिक आर्ष वाङ्मय के सहस्रों शिष्ट-प्रयोग अशुद्ध ठहरते हैं, वहां पाणिनि के अपने शास्त्र में प्रयुक्त लगभग १०० एक शत प्रयोग भी असाधु मानने पड़ते हैं। पाणिनि जैसा प्रामाणिक वैयाकरण, जो दूसरों को साधु-असाधु शब्दों का परिज्ञान कराने के लिये शब्द-शास्त्र का प्रवचन करता है, वह स्वयं अपने ग्रन्थ में औत्तरकालिक व्याख्याकारों की मति के अनुसार, एक शत असाधु प्रयोग करेगा, यह बात किसी भी विचारवान् की समझ में कभी नहीं आ सकती। आधुनिक वैयाकरण पाणिनि के उन प्रयोगों को सीधे मुंह तो असाधु अथवा अपशब्द नहीं कहते परन्तु **छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति, सौत्रत्वात् साधु**[2] इस प्रकार अस्पष्ट

---

१. इसके अन्तर्गत विकरण-इट्-अनिट्-आत्मनेपद-परस्मैपद आदि विधियों और प्रातिपदिक-गण संबन्धि समस्त कार्यों का संग्रह समझना चाहिये।

२. महाभाष्यकार ने भी इन वाक्यों का प्रयोग किया है, परन्तु उन का वह अभिप्राय नहीं, जो साम्प्रतिक वैयाकरण समझते हैं। (द्र० पृष्ठ ४ टिप्पणी १)।

शब्दों में उन्हें असाधु अवश्य कहते हैं ।[१] पाणिनि के कतिपय तथाविध प्रयोग हम नीचे उद्धृत करते हैं—

पाणिनि प्रयोग	दोष	साधु समझा जानेवाला प्रयोग
वृद्धिरादैच् (१।१।१)	कुत्व का अभाव	(आदैक्)
नाज्झलौ[२] (१।१।१०)	,, ,,	(नाग्घलौ)
अणुदित्० (१।१।६९)	णुट् का अभाव	(अण्णुदित०)[३]
भूवादयो० (१।३।१)	मध्य में वकारागम	(भ्वादयो धातवः)[४]
अन्वच्यानु० (३।४।६४)	ऊत् का अभाव	(अनूच्यानु०)[५]
ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४)	पञ्चम्यर्थ में षष्ठी	(ऋहल्भ्यां ण्यत्)
युवोरनाकौ (७।१।१)	समाहार में नपुंसकाभाव	(युवुनोऽनाकौ)[६]
	इतरेतरयोग में व-लोप	(युव्वोरनाकौ)[६]

पाणिनीय शास्त्र की वैज्ञानिक व्याख्या

पाणिनीय व्याकरण तथा उपलब्ध समस्त व्याकरण वाङ्मय का और प्राचीन विविध संस्कृत वाङ्मय का वर्षों तक अनुशीलन करके हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि यदि पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिक व्याख्या की जावे तो उस व्याख्या से न केवल पाणिनीय प्रयोगों का ही साम्प्रतिक वैयाकरणों द्वारा उद्घोषित असाधुत्व दोष दूर हो जाता है, अपितु समस्त

१. अत्र हरदत्तः=छन्दोवद् ऋषयः कुर्वन्तीति। अस्यायमाशयः— असाधव एवैते त्रिशङ्क्वाद्ययाज्ययाजनवत् तपोमाहात्म्यशालिनां मुनीनामसाधुप्रयोगेऽपि नातीव बाधते। भट्टोजिदीक्षित, शब्दकौस्तुभ १।४।७॥ इतिहासपुराणेष्वपशब्दा अपि सम्भवन्ति। हरदत्त, पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७॥

२. इसी प्रकार 'सिद्धमनच्त्वात्' वार्तिककारीय प्रयोग (१।१।१०)। यदि ये प्रयोग असाधु अप्रयोगार्ह हों, तो 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (१।१।७) की वृत्ति 'अज्भिर-व्यवहिता हलः संयोग संज्ञा भवन्ति' में सभी वैयाकरणों का 'अज्भिः' प्रयोग अप-शब्द ही होगा।

३. तुलना करो—'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१।१।६६) 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' (८।३।३२) सूत्र से ङमुट् का नित्य विधान है।

४. इस विषय के लिए देखिये हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २१-२४।

५. इसी प्रकार 'तिर्यच्यपवर्गे (३।४।६०) में भी 'तिरश्च्यपवर्गे' पाठ होना चाहिए।

६. द्र०—इस सूत्र के महाभाष्यादि व्याख्यान ग्रन्थ।

प्राचीन आर्ष वाङ्मय में प्रयुक्त सहस्रों शिष्ट-प्रयोगों का (जिन्हें साम्प्रतिक वैयाकरण असाधु मानते हैं) साधुत्व भी व्यवस्थापित हो जाता है।

अन्य महान् लाभ—इसके द्वारा एक महान् लाभ यह होगा कि संस्कृत भाषा के उत्तरोत्तर संकोच अथवा ह्रास के कारण सहस्रों विलुप्त हुए नाम तथा धातुओं और उनसे निष्पन्न होने वाले लक्षों पदों का अनायास परिज्ञान हो जावेगा। देखिये, भट्ट कुमारिल क्या लिखता है—

'यावांश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणम्, तदुपलक्षितरूपाणि च। तन्त्रवार्तिक १।३।१२, पृष्ठ २३६, पूना सं०।

अर्थात्—[संस्कृत भाषा का] जितना स्वाभाविक शब्द समूह नष्ट हो गया है, उसके उपलक्षक व्याकरणशास्त्र से नियम अथवा तन्निर्दिष्ट रूप हैं।

जब मैंने भट्ट कुमारिल की पंक्ति पढ़ी, तो महान् आश्चर्य हुआ। हम लोग वर्षों परिश्रम करके जिन तत्त्वों को पाते हैं, वे प्राचीन आचार्यों को पूर्वतः परिज्ञात होते हैं। इसी कारण हमें वारम्वार 'मध्यकालीन वैयाकरण' पद का प्रयोग करना पड़ता है। अस्तु।

अपर महान् लाभ—संस्कृत भाषा के विलुप्त सहस्रों नाम तथा धातुओं और उनसे निष्पन्न लक्षों शब्दों के प्रकाश में आ जाने पर तुलनात्मक भाषा विज्ञान का क्षेत्र अति विस्तृत हो जाएगा। उससे भारोपीय (इण्डोयोरोपियन) अथवा सेमेटिक-हेमेटिक आदि परिवारों में विभाजित[1] भाषाओं और उपभाषाओं के शब्दों की तुलना से भाषाविज्ञान के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति उत्पन्न हो जावेगी[2]। वैदेशिक तथा बिना विचारे उनके पदचिह्नों पर

---

१. ये विभाग काल्पनिक हैं। "ग्रे" का मत है कि "एक समय देखा जायेगा कि वर्तमान में पृथक्-पृथक् माने गये प्रधान-प्रधान भाषा-परिवार (इण्डोयोरोपियन हेमेटिक सेमेटिक अलिक आदि) एक ही वंश परम्परा के सिद्ध हों" (पृ० ३०२)। इस विषय के अधिक परिज्ञान के लिये देखिये पं० भगवद्दत्तजी कृत "भाषा का इतिहास" पृष्ठ २१६-२२२ (संस्क० २)।

२. थोड़े से स्वपरिज्ञात शब्दों के आधार पर विविध भाषाओं की तुलना करने का कैसा फल होता है, इसके लिये 'बॉप' जैसे प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक का लेख पढ़िये। वह लिखता है—'कतिपय शब्दों की तुलना से ज्ञात होता है कि योरोपियन भाषाओं की अपेक्षा बंगला संस्कृत से अधिक दूर है। बंगला के 'बाप' और 'बोहिनी' शब्दों का सस्कृत के पितृ और स्वसृ शब्द से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं हैं।" द्रष्टव्य—वै० वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ ६६, ६७ सं० २। वस्तुतः 'बॉप' का लेख अशुद्ध है। उस विचारे को पता ही नहीं कि संस्कृत में पिता के लिये 'वाप' और स्वसा के लिए 'भगिनी' शब्द भी हैं, जिनसे बंगला के बाप और बोहिनी शब्दों का सीधा सम्बन्ध है।

चलने वाले हमारे भारतीय भाषाविज्ञों को भाषाविज्ञान पर नए सिरे से काम करना होगा। उनके पूर्व निर्धारित अनेक कल्पित सिद्धान्त अनायास धूलिसात् हो जाएंगे[1]। इससे संस्कृत भाषा का गौरव जिसे योरोपियन भाषा वैज्ञानिकों ने ईसाई और यहूदी पक्षपात के कारण नष्ट कर दिया है,[2] पुनः प्रतिष्ठापित होगा और उसकी संसार की सम्पूर्ण भाषाओं की जननी[3] कहाने की पूर्ण योग्यता प्रकाश में आ जावेगी।

वैज्ञानिक व्याख्या का स्वरूप और उसके लाभ

हम यहां पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिक व्याख्या का स्वरूप और उस व्याख्या द्वारा प्रकट होने वाली विलुप्त प्रकृतियों (नाम तथा धातुओं) का दिग्दर्शन कराने के लिए पांच उदाहरण उपस्थित करते हैं—

१ पाणिनि का सूत्र है—**मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च**। ४।१।१६१॥

वैयाकरण इसका अर्थ करते हैं—षष्ठी समर्थ (=षष्ठयन्त) 'मनु' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में 'अञ्' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं, यदि जाति अर्थ जाना जाए, तथा प्रत्यय के साथ मनु प्रातिपदिक को 'षुक्' (अन्त में षकार) का आगम होता है। यथा—मनु की अपत्य रूप जाति—मानुष और मनुष्य।

प्रश्न होता है कि मनु शब्द में षकार नहीं है, तब उससे निष्पन्न मानुष और मनुष्य में कहां से और किस प्रकार आया? साम्प्रतिक वैयाकरणों के पास इसका कोई उत्तर नहीं। इसका यथार्थ उत्तर हमारी वैज्ञानिक व्याख्या ही दे सकती है।

---

१. मैकडानल और गुणे प्रभृति लेखकों ने 'ऋतस्पति' 'रथस्पति' में सकारागम 'बृहस्पति' के सादृश्य पर माना है। और बृहस्पति के पूर्वपद को षष्ठी का एकवचन लिखा है। ये दोनों ही मत नितान्त अशुद्ध हैं। स्वरशास्त्र के अनुसार बृहस्पति का पूर्वपद औणादिक 'कसुन्' प्रत्ययान्त है। इसी प्रकार ऋतस्पति का ऋतस् भी। इस की विशद मीमांसा के लिये देखिये हमारा 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' ग्रन्थ पृ. ८७,८८।

२, देखिये, श्री० पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, भारतीय इतिहास की विकृति के कारण, अ० ३। विशेष पृष्ठ ३५-४२ तक।

३. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ……। मनु १।२१॥ 'वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है'। स्वामी दयानन्द सरस्वती सत्यार्थप्रकाश, शताब्दी सं० भाग १, पृष्ठ ३१६ तथा पूना के व्याख्यान (उपदेश-मञ्जरी नाम से प्रसिद्ध) में—'इस संस्कृत भाषा के सदृश मृदु मधुर और व्यापक सर्वभाषाओं की माता अन्य कौन सी है?'

वैज्ञानिक व्याख्या—संस्कृत भाषा में **मानव मानुष और मनुष्य** तीन प्राय: सदृश एकार्थक शब्द प्रयुक्त होते हैं। इनकी परस्पर में तुलना करने से विदित होता है कि **मानव** और **मानुष** के आदि (प्रकृति) भाग में कुछ भिन्नता है और अन्त्य(प्रत्यय) भाग 'अ' समान है (स्वर की दृष्टि से अण् और अञ् दो प्रत्यय होते हैं, परन्तु 'अ' अंश दोनों में समान है)। मानुष और मनुष्य के आदि(प्रकृति)भाग में समानता(प्रत्यय निमित्तक वृद्धि कार्य की उपेक्षा करके)है, और अन्त्य(प्रत्यय)भाग में विषमता है। इस **अन्वय-व्यतिरेक** रूपी तुलना से स्पष्ट है कि इन तीनों शब्दों की एक मनु प्रकृति नहीं हैं। मानव की मनु प्रकृति है और मानुष तथा मनुष्य की षकारान्त मनुष्। इस अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध तत्त्व के प्रकाश में इस सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या होगी—

षष्ठयन्त मनु प्रातिपदिक से जाति विशिष्ट अपत्य अर्थ में अञ् और यत् प्रत्यय होते हैं तथा मनु को षुक् (अन्त में षकार)का आगम होता है। अर्थात्—मनु के अन्त में षकार का योग करके मूल प्रकृति भूत मनुष् रूप प्रातिपदिक बनाकर (=प्रकृत्यन्तर की कल्पना करके) उससे अञ् और यत् प्रत्यय करो।

इस व्याख्या के अनुसार प्रत्यय विधान साक्षात् मनु से न होकर मनुष् से होगा।

प्रकृत्यन्तर कल्पना का लाभ—हमारी व्याख्या के अनुसार जो 'मनुष्' प्रकृत्यन्तर की कल्पना की गई है, उसका एक लाभ यह भी है कि उससे निष्पन्न तथा पाणिनि से अविहित शब्दों का साधुत्व उपपन्न हो जाता है। पाणिनि की वर्तमान व्याख्या के अनुसार 'मानुष' शब्द का प्रयोग मानव जाति रूप अर्थ से अन्यत्र नहीं हो सकता। परन्तु हमारी व्याख्यानुसार जब पाणिनि स्वतन्त्र 'मनुष्' प्रकृति के अस्तित्व का ज्ञापन कर देते हैं, तब उस स्वतन्त्र 'मनुष्' प्रकृति से अन्य अर्थों में भी यथाविहित प्रत्यय होकर **तस्य इदम्** आदि अर्थों में भी मानुष शब्द का साधुत्व उपपन्न हो जाता है। जाति रूप अपत्य अर्थ से अन्यार्थ में मानुष का प्रयोग प्राय: उपलब्ध होता है। यथा-

मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। शत० १।४।४।१॥

भोगांश्चातीव मानुषान्। महा० उद्यो० ६०।६६॥

यहां मनुष्य सम्बन्धी **तस्येदम्** (४।३।१२०) अर्थ में मानुष पद प्रयुक्त है।

मनुष् प्रकृति का सद्भाव—हमने अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा जिस 'मनुष्' प्रकृति की कल्पना की है वह शशशृङ्गायमाण नहीं है।

मनुष् षकारान्त प्रकृति वेद में वहुधा व्यवहृत है। इतना ही नहीं, मनुष्य की प्रकृति मनुष् है, ऐसा यास्क ने भी माना है। उन्होंने लिखा है—

मनुष्यः कस्मात्····· मनोरपत्यं मनुषो वा। निरुक्त ३।७॥

मनुष अकारान्त— षकारान्त मनुष् प्रकृति का सद्भाव दर्शा चुके। वेद में मनुष अकारान्त शब्द भी वहुत्र उपलब्ध होता है। अकारान्त मनुष भी आद्युदात्त है।

संस्कृत भाषा में शब्दों का वैपुल्य–संस्कृत भाषा में अकारान्त इकारान्त उकारान्त शब्द प्राय, सकारान्त अथवा षकारान्त भी देखे जाते हैं। इसी तथ्य का निर्देश वैयाकरणों ने '**सर्वप्रातिपदिकेभ्यः सुग् वक्तव्यः**(७।१।५१) **दधिस्यति मधुस्यति** वचन द्वारा किया है। तदनुसार दधिस् मधुस्[1] स्वतन्त्र प्रकृतियां हैं।[2] सकारान्त अथवा षकारान्त शब्द अकारान्त भी प्रयुक्त होते हैं। यथा ज्योतिष्—ज्योतिष, धनुष्, धनुष। इस प्रकार अनेक शब्द तीन प्रकार के उपलब्ध होते हैं। धनु उकारान्त, धनुष् षकारान्त, धनुष अकारान्त। इसी प्रकार मनु मनुष् मनुष।

२— कात्यायन का वार्त्तिक है—**नयतेः षुक् च**। ३।२।१३५॥ अर्थात् 'नी' धातु[3] से तच्छील आदि अर्थों में 'तृन्' प्रत्यय होता है और धातु को 'षुक्' (अन्त में षकार) का आगम होता है। यथा—नी+तृन्=ने+तृ= नेष्+तृ=नेष्टृ=नेष्टा।

यहां भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि 'नी' धातु से 'तृन्' प्रत्यय करने पर नेतृ=नेता प्रयोग वनता है। नेष्टा में षकार कहां से आया? षकार न धातु में है और न प्रत्यय में।

संस्कृत भाषा में 'नेता' और 'नेष्टा' दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं। अतः जैसे नेता शब्द का सीधा सम्बन्ध 'नी' धातु से है, वैसे ही 'नेष्टा' का सम्बन्ध 'निष्' धातु के साथ होना चाहिये। अप्रसिद्ध प्रकृतिवाले 'नेष्टा' शब्द में

---

१. तुलना करो—मधुषा संयौति। तै० सं० २।४।९॥ हमारे विचार में 'दधिष्यति मधुष्यति' पाठ होना चाहिए।

२. इसी प्रकार 'अग्निस्' भी स्वतन्त्र शब्द है। इसी के अपभ्रंश इण्डोयोरोपियन भाषाओं में 'इग्निस्' 'उङ्निस्' आदि विविध रूपों में मिलते हैं।

३. दीर्घ 'नी' निर्देश साम्प्रतिक वैयाकरणों के अनुसार है। वस्तुतः वार्तिक स्वारस्य से 'नि' ह्रस्वान्त स्वतन्त्र धातु प्रतीत होता है। दीर्घ नी से षुक् करने पर नीष् अवस्था में गुण नहीं हो सकता। वैयाकरणों ने इस दोष की निवृत्ति के लिये व्यर्थ कल्पनाएं की हैं।

वास्तविक धातु के सम्बन्ध को बतलाने के लिए वार्तिककार ने लोकप्रसिद्ध 'नि' धातु के अन्त में षकार जोड़कर 'निष्' धातु रूप बनाकर 'तृन्' प्रत्यय करने का विधान किया है। इस प्रकार लुप्त-प्राय 'निष्' धातु का उद्धार अथवा परिज्ञान अनायास हो जाता है।

इस व्याख्या का लाभ—इस व्याख्या का लाभ यह है कि वेद में प्रयुक्त नेषणि (ऋ० १०।१२६।३) नेषत् (ऋ० १।१४१।१२) नेषति (ऋ० ५।४६।१) नेषि (ऋ० १।३१।१८) नेष्ट्रात् (ऋ० १।१५।९) आदि विविध क्रिया और नाम पदों का साधुत्व अनायास उत्पन्न हो जाता है।

महाभाष्यकार द्वारा अनुमोदन–हम सूत्र और वार्तिक आदि की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा जिस रहस्य का उद्घाटन करते हैं, उसका अनुमोदन महाभाष्य के अनेक स्थलों से होता है[1]। प्रकृत वार्तिक पर भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—

न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? धात्वन्तरं नेषतिः। कथं ज्ञायते? नेषतु नेष्टात् इति हि प्रयोगो दृश्यते इन्द्रो वस्तेन नेषतु, गावो नेष्टात्॥

अर्थात्—नेष्टा शब्द की सिद्धि के लिये 'नी' धातु को षुक् का आगम कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'निष्' स्वतन्त्र धातु है। कैसे जाना जाता है? **नेषतु नेष्टात्** प्रयोग देखे जाते हैं (जो निष् धातु मानने पर ही उपपन्न हो सकते हैं, क्योंकि 'नी' को 'षुक्' आगम तृन् के योग में कहा है। वह नेषतु नेष्टात् में नहीं हो सकता)। यथा—**इन्द्रो वस्तेन नेषतु, गावो नेष्टात्।**

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि हम सूत्र-वार्त्तिकों की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा **प्रकृत्यन्तर सद्भाव की जो कल्पना करते हैं, वह महाभाष्यकार को अभीष्ट है।** महाभाष्य के निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं—

१—बृह (नुम् रहित) प्रकृत्यन्तर १।१।४॥ ६।४।२४॥
२—निष प्रकृत्यन्तर ३।१।३४॥ ३।२।१३५॥
३—पृण मृण (श्नम् रहित) धात्वन्तर ३।१।७८॥
४—सुधातक, व्यासक, वरुडक, निषादक, चण्डालक, बिम्बक (अकङ् रहित) प्रकृत्यन्तर ४।१।९७॥
५—पीतक (कन् रहित) प्रकृत्यन्तर ४।२।२॥

---

[1] द्रष्टव्य महाभाष्य १।१।४॥ १।१।५७ न वेति०॥ ३।१।३४॥ ३।१।७८॥ ३।२।१३५॥ ४।१।९७॥ ४।३।२२॥ ४।३।८४॥ ५।२।२९॥ ६।१।६०॥ ६।३।३५॥ ६।४।२४॥ ७।३।८७॥

६—**हेमन्** (हेमन्त-तलोप रहित) प्रकृत्यन्तर ४।३।२२॥
७—**तंल** (विकार प्रत्यय रहित) प्रकृत्यन्तर ५।२।२९॥
८—**शीर्षन्** (आदेश रहित) प्रकृत्यन्तर ६।१।६०॥
९—**सपत्न** (स्त्रीलिङ्ग में विहित ४।१।३५ नकारादेश रहित प्रकृत्यन्तर ६।३।३५॥
१०—**स्पश कश वश**(स्पाश्मृ-काश्मृ-वाश्मृ उपधा ह्रस्वत्व रहित)प्रकृत्यन्तर ७।३।८७॥

इन उदाहरणों में प्रकृत्यंश में विहित लोप आगम वर्णविकार आदि के सभी प्रकार के उदाहरण संगृहीत हो गये हैं।

३—पाणिनि का सूत्र है—**कन्यायाः कनीन च**। ४।१।११६॥

इसका अर्थ किया जाता है—षष्ठी समर्थ (षष्ठयन्त) 'कन्या' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है और कन्या को 'कनीन' आदेश हो जाता है। कन्या (कुंवारी) का पुत्र=कानीन।

यहां पर यह विचारणीय है कि 'कन्या' का 'कानीन' से दूर का भी सम्बन्ध नहीं, कन्या से अण् होकर कान्य प्रयोग होना चाहिये। कानीन की प्रकृति तो 'कनीना' ही हो सकती है।

वैज्ञानिक व्याख्या—पाणिनि के उक्त सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या होगी—'कन्या' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण् प्रत्यय होता है और कन्या के स्थान पर 'कनीन'(प्रातिपदिकमात्र, स्त्रीत्व विवक्षा में 'कनीना')आदेश होता है। अर्थात् कन्या अर्थ वाले **कनीना** (स्त्रीत्व विशिष्ट) प्रकृति से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, ऐसा जानना चाहिए। कन्यावाचक **कनीना** पद वैदिक साहित्य में बहुत्र उपलब्ध होता है। तै० आ० १।२७।६ में कनीना का दूसरा रूप **कनीनी** भी प्रयुक्त है। दोनों मध्योदात्त कनीन प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में टाप् और ङीप् होकर निष्पन्न होते हैं।

कनीना प्रकृति कल्पना का लाभ—पाणिनि के उक्त सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या करने से कन्या अर्थ में जो 'कनीना' प्रकृति का सद्भाव ज्ञापित होता है। उसके प्रकाश में अवेस्ता के '**हओमयश्त**' ९।२३ का पाठ पढ़िए—**ह ओमा तास् चित् या कइनीना** (**संस्कृत** सोमः ताश्चित् याः कनीना···) इसमें पठित 'कइनीना' 'कनीना' का ही अपभ्रंश है, यह स्पष्ट है। कनीना के अज्ञान में इसका सम्बन्ध 'कन्या' से समझा जाएगा, जो कि सर्वथा अयुक्त है। इससे स्पष्ट है कि वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा लुप्त प्रकृतियों का उद्धार करने से भाषा वैज्ञानिकों को भाषाओं की पारस्परिक तुलना के लिये एक नई दृष्टि और विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध हो जाता है।

४—वार्तिककार का एक वार्तिक है–**हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य** ८।३।३५।

अर्थात्—'हृ' और 'ग्रह' (=गृह) के हकार को भकार होता है। भरति, गृभ्णाति। यहां दो बातें विचारणीय हैं। प्रथम—'हृ' के 'ह' को 'भ' करने की आवश्यकता ही क्या है? जब कि स्वतन्त्र 'भृ' धातु का धातुपाठ में सर्वसम्मत पाठ उपलब्ध है। यदि कहा जाए कि धातुपाठ पठित 'भृ' का हरण अर्थ नहीं है, यह भी कहना तुच्छ है। वैयाकरणों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि धातुपाठ में लिखित अर्थ उपलक्षणमात्र हैं, धातु बह्वर्थक होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भृ का हरण अर्थ स्वीकार किया जा सकता है। दूसरा—'ग्रह' के 'ह' को 'भ' और 'र' को 'ऋ' कैसे हुआ? **गृभ्णाति गर्भ** आदि शब्दों की **गृह्णाति गृह** आदि शब्दों के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि दोनों प्रकार के प्रयोगों की दो पृथक्-पृथक् (गृभ-गृह=ग्रह) मूल प्रकृतियां होनी चाहियें।

वैज्ञानिक व्याख्या—'हृ' के हकार को भकार होकर जो 'भृ' रूप होता है, उसका अर्थ वह भी है, जो 'हरति' का है। इसी प्रकार ग्रह (गृह) के हकार को भकार रूप होकर जो गृभ रूप निष्पन्न हो जाता है, वह गृह्णात्यर्थक स्वतन्त्र धातु है।[1]

इस प्रकार की व्याख्या करने से 'भृ' के हरणरूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है, और ग्रह (गृह) के वर्ण परिवर्तन से स्वतन्त्र **गृभ** धातु का परिज्ञान होता है। इस गृभ धातु के प्रयोग वेद में तो उपलब्ध होते ही हैं, यास्क भी गर्भ शब्द का निर्वचन इसी धातु से दर्शाता है और उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। वह लिखता है—

गर्भो गृभेः, गृणात्यर्थे[2], **गिरत्यनर्थानिति वा**। निरुक्त १०।२३॥

अर्थात्–गर्भ 'गृणाति' (शब्द) अर्थ में वर्तमान 'गृभ' धातु से, अथवा अनर्थों को निगल जाता है, नष्ट कर देता है, इस कारण 'गिरति' (निगलना) अर्थ में।

५—पाणिनि का समासान्त विधायक एक सूत्र है—**राजाहस्सखिभ्यष्टच्**। ५।४।९१॥

---

१. इसी प्रकार ग्राहक आदि में ग्रह की उपधा दीर्घत्व द्वारा निर्दशित 'ग्राह' भी स्वतन्त्र धातु है। देखिए महाभारत वन० १३२।४ का 'निजग्राहतुः' प्रयोग।

२. यहां पाठ भ्रंश हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। 'गृह्णात्यर्थे' पाठ होना चाहिए। क्योंकि वेद में 'गृभ' धातु का प्रयोग 'ग्रह' धातु के अर्थ में मिलता है। स्वयं यास्क ने भी आगे 'यदा हि स्त्री गुणान गृह्णाति···' वाक्य में गृह्णाति का ही प्रयोग किया है।

इसका अर्थ है—राजन्, अहन् और सखि शब्द जिसके अन्त में हों, ऐसे तत्पुरुष समास से 'टच्' प्रत्यय होता है। टच् प्रत्यय होने पर पाणिनीय नियम के अनुसार 'अन्' भाग का लोप होना है और रूप बनता है—**मद्र-राजः काशीराजः, द्वयहः, त्र्यहः।**

इस व्याख्या के अनुसार **नागराज्ञा** (महा० आदि० १६।१३) **सर्वराज्ञाम्** (आदि १।१०२), **काशीराज्ञे** (भासनाटकचक्र पृष्ठ १८७) महाराजानम् (भास, यज्ञफल, पृष्ठ २८) आदि शतशः प्रयुक्त शब्दों का साधुत्व उपपन्न नहीं होता। पाणिनि ने भी **षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि** (अ० ६।४।१३५) सूत्र में नकारान्त **'धृतराजन्'** शब्द का प्रयोग किया है[1]।

वैज्ञानिक व्याख्या—इस व्याख्या के अनुसार सूत्र का अर्थ होगा—राजन् अहन् और सखि शब्द जिनके अन्त में हों ऐसे तत्पुरुष समास से 'टच्' प्रत्यय होता है, अर्थात् टच् प्रत्यय करने पर **अन्** और इ भाग का लोप और प्रत्यय के अ के मेल से जो अकारान्त **राज अह सख** शब्द निष्पन्न होते हैं, उनसे निष्पन्न **मद्रराज काशीराज महाराज द्वयह त्र्यह** आदि समस्त शब्द हैं। दूसरे शब्दों में नकारान्त सदृश अकारान्त **राज** और **अह** स्वतन्त्र प्रकृतियां हैं। उन्हीं से निष्पन्न मद्रराज द्वयह आदि शब्द हैं।

वैज्ञानिक व्याख्या का लाभ—इस व्याख्या का भारी लाभ यह है कि अकारान्त और नकारान्त भेद से दो स्वतन्त्र शब्दों की सत्ता ज्ञात होने पर प्राचीन वाङ्मय में बहुधा प्रयुक्त नकारान्त समस्त ('काशीराज्ञे' आदि) शब्दों का साधुत्व तो अनायास प्रकट हो ही जाता है, साथ में बिना समास के अकारान्त शब्दों का प्रयोग भी हो सकता है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे कतिपय विरल प्रयोग भी सुरक्षित हैं। यथा—

अकारान्त राज शब्द— राजाय प्रयतेमहि (महा० आदि० ६४।४ :)

अकारान्त अह शब्द—तन्त्राख्यायिका २।१३६ में उद्धृत प्राचीन वचन है—

यस्मिन् वयसि यत्काले यदहे चाथवा निशि।

पाणिनीय नियमानुसार **द्वयह त्र्यह** प्रयोग तत्पुरुष समास में ही होता है, परन्तु रामायण १।१४।४० के **त्र्यहोऽश्वमेधः** वचन में बहुव्रीहि में भी

---

1. संवत् १९३९ श्रावण वदी ४ को शाहपुराधीश को लिखे गये पत्र में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— "श्रीयुत महाराजाधिराजभ्यो धीरवीर····· " ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ३८० (द्वि० सं०)। यहां समास होने पर भी नकारान्त राजन् शब्द का प्रयोग किया है। समासान्त प्रत्यय नहीं किया।

अकारान्त की प्रवृत्ति देखी जाती है। पाली व्याकरण के अनुसार 'राजन्' शब्द की कतिपय विभक्तियों में नकारान्त और अकारान्त दोनों के रूप प्रयुक्त होते हैं। यथा–द्वि०ए० **राजानम्, राजम्**। तृ०ए० **रज्जा, राजेन**। स०व० **राजेसु**।

प्राचीन आचार्यों का एक वचन है—**विभाषा समासान्तो भवति**।[1] (समासान्तविधिरनित्यः—पाठा०)। इस वचन का वास्तविक भाव यही है कि समासान्त प्रत्यय करने पर लोकप्रसिद्ध उत्तरपद का जो स्वरूप निष्पन्न होता है, उस अप्रसिद्ध शब्द और लोकप्रसिद्ध दोनों प्रकार के शब्दों से निष्पन्न समस्त प्रयोगों का साधुत्व जानना चाहिए। यथा—

सत्यधर्माय दृष्टये। ईशोप० में, अकारान्त धर्मशब्द।

सत्यधर्माणमध्वरे। ऋ० १।१२।४ में, नकारान्त धर्मन् शब्द।

इसी नियम के अनुसार नकारान्तरूप से प्रसिद्ध **कर्मन्** शब्द अकारान्त (**कर्म**) भी देखा जाता है। ऋ० १०.१३०।१ में **देवकर्मभिः** प्रयोग अकारान्त कर्म शब्द का ही है।

ऊधसोऽनङ् (अ० ५.४।१३१) सूत्र से 'ऊधस्' को समासान्त 'अनङ्' आदेश करके जो **'ऊधन्'** शब्दरूप बनाया जाता हैं, उसके (=ऊधन् के) बिना समास के अनेक विभक्तियों के रूप वेद में उपलब्ध होते हैं। इस व्याख्या के अनुसार सारा समासान्त प्रकरण **द्विविध प्रकृतियों** (बिना समासान्त के जो शुद्ध रूप है और समासान्त करने पर शास्त्रीय कार्य होकर जो रूप निष्पन्न होता है)का बोधक है। इस प्रकार केवल एक समासान्त प्रकरण से ही शतशः शब्दों के मूलभूत दो दो रूपों का परिज्ञान हो जाता है।

अब हम पूर्व निर्दिष्ट आशङ्का का परिहार करते हैं—

लोप-आगम-आदेश रूप क्लिष्ट प्रक्रिया अपनाने का कारण

शब्द साधुत्व का परिज्ञान लोक व्यवहार में सहायक होता है। लोक व्यवहार बिना अर्थ ज्ञान के सम्भव नहीं। इसलिये व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों की, शब्द-साधुत्व का परिज्ञान कराते हुए उनके अर्थ परिज्ञान की भी विवक्षा रहती है। जो शब्द लोक में व्यवहृत होते हैं, उनके अर्थ लोक व्यवहार से परिज्ञात होते हैं, परन्तु जिन शब्दों का लोक में व्यवहार उत्सन्न हो जाता है, उनका अर्थज्ञान लोक से सम्भव नहीं होता। इसलिए उनके अर्थ परिज्ञान के लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है।

---

१. महाभाष्य ६.२।१६७ में ज्ञापित। 'अनित्य' पाठ आधुनिक है। 'विभाषा' पाठ व्यापक अर्थ का बोधक है। आधुनिक वैयाकरणों ने 'अनित्यः' पद रखकर उसकी व्यापकता नष्ट कर दी।

भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि संसार में म्लेच्छता, उच्चारण की अस्पष्टता, अशक्तिज-अनुकरण, राजसिक तामसिक भोजनों के कारण ध्वनियन्त्रों में विकार और अज्ञान की वृद्धि होने के कारण संस्कृत भाषा का उत्तरोत्तर ह्रास होने लगा। अर्थात् म्लेच्छ=अपभ्रंश[1] भाषाओं के प्रचलन के कारण वह संकुचित होने लगी।। उससे शब्दों का लोप होने लगा। बहुत काल पश्चात् उसमें ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न हो गई कि किसी शब्द की मूल प्रकृति का प्रयोग किसी देश में अवशिष्ट रह गया और उससे निष्पन्न शब्दों का व्यवहार उस देश में उत्सन्न हो गया। इसी प्रकार किसी देश में मूल प्रकृति का व्यवहार नष्ट हो गया, केवल उससे निष्पन्न शब्द वहां व्यवहृत रह गये। महामुनि यास्क ने इस अव्यवस्था का चित्र अति संक्षिप्त शब्दों में इस प्रकार उपस्थित किया है—

शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते।······विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। निरुक्त २।२।।

अर्थात्—'गत्यर्थक शव' धातु के आख्यात (तिङन्त) के प्रयोग कम्बोज देश में ही बोले जाते हैं, इसका विकार (कृदन्त) 'शव' शब्द आर्यों में बोला जाता है। काटने अर्थवाली 'दा' धातु के आख्यात प्रयोग प्राच्यदेश में ही व्यवहृत होते हैं[उससे निष्पन्न]'दात्र' शब्द का प्रयोग उदीच्य देश में होता है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस तथ्य का अधिक स्पष्टीकरण किया है। वे लिखते हैं—

एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियत-विषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

महाभाष्य १।१।१।।

अर्थात्—इस [पूर्व निर्दिष्ट[2]] अति महान् शब्द के प्रयोग विषय (क्षेत्र) में वे वे शब्द उन उन स्थानों में नियत विषय[3] वाले देखे जाते । जैसे

---

१. यहां अपभ्रंश शब्द से विकृतभाषा-मात्र अभिप्रेत है, अपभ्रंश-संज्ञक विशिष्ट भाषा नहीं।

२. सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः बहुधा भिन्नाः, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेदः वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणं वैद्यकम्-इत्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोग-विषयः। महा० १।१।१।।

३. यहां विषय से अभिप्राय केवल देश मात्र से नहीं है। उसमें उपदिश्यमान

गत्यर्थक 'शव' धातु [आख्यातरूप में] कम्बोज देश में ही प्रयुक्त होती है, विकार में ही इसका प्रयोग आर्य करते हैं, 'शव' रूप में। गत्यर्थक 'हम्म' धातु सुराष्ट्र(सौराष्ट्र=काठियावाड़)में, 'रंह' प्राच्य और मगध में [प्रयुक्त होती है], आर्य 'गम' का ही प्रयोग करते हैं। काटने अर्थवाली 'दा' धातु प्राच्य में [प्रयोग होता है], दात्र [कृदन्त शब्द] का उदीच्य देश में।

इस अव्यवस्था की समाप्ति इतने पर ही नहीं हुई। एक नाम अथवा धातु के सब विभक्ति वचनों के पूरे रूप भी सुरक्षित नहीं रहे, किसी शब्द के किसी विभक्ति वचन का रूप अवशिष्ट रह गया, तो तत्समानार्थक अन्य शब्द के अन्य विभक्ति वचनों का। यथा—समानार्थक 'त्रि' और 'त्रय' शब्दों में से प्रथम त्रि के षष्ठी विभक्ति का 'त्रीणाम्' प्रयोग लोक में अव्यवहृत हो गया[1] और 'त्रय' शब्द के षष्ठी विभक्ति के 'त्रयाणाम्' प्रयोग के अतिरिक्त सभी विभक्तियों के रूप अव्यवहृत हो गए। उभ और उभय में से 'उभ' के एकवचन द्विवचन के प्रयोग उत्सन्न हुए और उभय के द्विवचन के। इसी प्रकार 'गम' 'पा' आदि धातुओं के लट् लोट् लङ् विधिलिङ् के प्रयोग अव्यवहृत हो गए तो 'गच्छ' 'पिब' के अन्य आर्धधातुक लकारों में।

ऐसी भयङ्कर अव्यवस्था उत्पन्न होने पर उत्तरवर्ती वैयाकरणों को कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ा होगा, इसकी हम पूरी कल्पना भी नहीं कर सकते। तत्कालीन आचार्यों ने अवशिष्ट संस्कृत भाषा को सुरक्षित और व्यवस्थित रखने के लिए जिन व्याकरणशास्त्रों का प्रवचन किया, उसमें उन्हें तीन कार्य करने पड़े—

१. जिन प्रकृति अथवा विकृति रूप शब्दों का लोक में व्यवहार उत्सन्न हो गया, उनके लिए वैयाकरणों ने नियम बनाया—**अनभिधानान्न प्रयुज्यते।** अर्थात् उत्सन्न व्यवहार वाले शब्द व्यवहार करने पर अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकते,[2] इसलिये उनका प्रयोग नहीं होता।

२. जिन जिन शब्दों की मूल प्रकृति तत्तद् वैयाकरणों के काल और देश में अव्यवहार्य हो चुकी थी, उनसे निष्पन्न व्यवह्रियमाण कृदन्त अथवा तद्धितान्त शब्दों का अन्वाख्यान करने के लिए उन्हें स्वकाल अथवा स्व.श

विद्या रूपी विषय का भी अन्तर्भाव समझना चाहिये। इतिहास पुराण आदि का निर्देश इसीलिये किया है।

१. 'त्रीणाम्' प्रयोग वेद में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार 'त्रय' का 'त्रयाणि' प्रयोग निरुक्त ६.२८; उणादिकोष व्याख्या १।१३२ में व्यवहृत है।

२. लोकव्यवहार के नष्ट हो जाने से अर्थाभिधानशक्ति का भी नाश हो जाता है।

में व्यवहार्य तदर्थक तत्सदृश प्रकृति का आश्रय लेना पड़ा। परन्तु व्यवहार्य प्रकृति से वह (अव्यवह्रियमाण=उत्सन्न-प्रकृति से निष्पन्न) शब्द सरलता से उपपन्न नहीं हो सकता था और उत्सन्न-व्यवहारवाली प्रकृति का उपादान करके, उसमें लोप आगम और आदेशों के विधान द्वारा उसे मूल (परन्तु उस समय अव्यवह्रियमाण) प्रकृति के रूप में परिणत करके[1] प्रत्यय विधान करना पड़ा। **इस प्रकार ऋषियों ने अपने शब्दानुशासनों में स्वकाल में व्यवह्रियमाण प्रकृति का उपादान करके 'अर्थपरिज्ञान' और उसमें लोप आगम आदेश के विधान द्वारा अव्यवह्रियमाण 'मूल प्रकृति' के स्वरूप का परिज्ञान कराकर 'एक बाण से दो लक्ष्य बींधना' अथवा 'एक पन्थ दो काज' आभाणक को चरितार्थ करके अपने अद्भुत बुद्धिचातुर्य का परिचय दिया।**

३. संस्कृत भाषा के ह्रास अथवा संकोच के कारण उसमें जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उसका संकेत हम पूर्व कर चुके[1]। उस अवस्था में जब किन्हीं दो समानार्थक और प्रायः सदृश शब्दों में से किसी शब्द के कुछ विभक्तियों के रूप अवशिष्ट रह गये और दूसरे शब्द के दूसरी विभक्तियों के रूप तब उस काल के मेधावी आचार्यों ने **नष्टाश्व-दग्धरथ-न्याय**[2] से उन्हें पुनः एक सूत्र में पिरो दिया। यथा—उभ शब्द के एकवचन और बहुवचन के रूप प्रयुक्त नहीं होते और उभय के द्विवचन के रूप। तथा **पा घ्रा ध्मा स्था गम** आदि धातुओं के सार्वधातुक लकारों के रूप प्रयुक्त नहीं रहे और **पिब जिघ्र धम तिष्ठ गच्छ** के आर्धधातुक लकारों के। वैयाकरणों ने इन्हें एक धातु के साथ सम्बद्ध कर दिया।[3] जहां इससे भी अधिक अव्यवस्था हुई, वहां वैयाकरणों ने विभिन्न शब्दों से निष्पन्न विभक्ति वचनों के लिये एक ही मूल शब्द की कल्पना करके लोप आगम आदेश द्वारा तत्तद्

---

१. 'महाराजः' आदि में राजन् के 'अन्' का लोप और 'टच्' प्रत्यय के अवशिष्ट 'अ' अंश के योग द्वारा 'राज' अकारान्त प्रकृति, 'मानुष-मनुष्य' में 'मनु' के अन्त में षकार आगम करके 'मनुष्' षकारान्त प्रकृति, 'ग्रह' के 'र' को 'ऋ' और 'ह' को 'भ' आदेश करके 'गृभ' प्रकृति का निर्देश किया है।

२. दो रथारोही सहयात्रियों में से एक का रथ जल गया, दूसरे का अश्व मर गया। उस अवस्था में वे दोनों अपने अवशिष्ट साधनों का योग करके यात्रा को पूरी करते हैं। यही 'नष्टाश्वदग्धरथन्याय' कहाता है।

३. इस सम्बन्ध में जिस प्रकृति के अधिक रूप व्यवहृत थे, उसे मूल मान लिया और अल्प व्यवहृत रूपवाली प्रकृति को आदेश बना दिया।

रूप बनाकर एक स्वतन्त्र रूपावली निष्पन्न कर दी। यथा—त्रिशब्द के षष्ठी के बहुवचन का **त्रीणाम्** रूप लोक में व्यवहृत नहीं होता, त्रयशब्द के षष्ठी के बहुवचन **त्रयाणाम्** के अतिरिक्त अन्य रूप व्यवहृत नहीं होते। अतः वैयाकरणों ने षष्ठी के बहुवचन में **त्रि** के स्थान में **त्रय** आदेश करके कार्य चलाया। **पथिन्** शब्द की जो रूपावली सम्प्रति प्रसिद्ध है, उस पर यदि इसी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए, तो विदित होगा कि उसके समझे जाने वाले २१ रूप एक पथिन् शब्द के नहीं हैं। उनमें **पन्था**[1] (आकारान्त) **पन्थन्**[2] (नकारान्त), **पथिन्** (इन्नन्त) और **पथ्**[3] (थकारान्त) चार[4] मूल प्रातिपादिकों के रूप एक सूत्र में पिरोए गए हैं। यह सारा कार्य इस चातुर्य से किया गया है कि बड़े-बड़े वैयाकरणों को भी इस बात का परिज्ञान नहीं होता।

धन्य है, उन वैयाकरण ऋषि मुनियों को, जिन्होंने उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त दैवी वाणी के लुप्त हुए और व्यवह्रियमाण दोनों अंशों के अधिक से अधिक स्वरूप को अपने बुद्धि-चातुर्य से सदा के लिये सुरक्षित कर दिया। उनकी इस अनुपम सूझ का परिज्ञान होने पर किस बुद्धिमान् की मूर्धा उन के प्रति श्रद्धा-पूर्वक नत न होगी और किसकी वाणी से सहसा

नमः परमर्षिभ्यो व्याकर्तृभ्यः

उद्गार न निकलेगा।[5]

अब प्रकृत भाष्यस्थ पदों पर पूर्वनिर्दिष्ट वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार विचार किया जाता है।

---

१. पन्था आकारान्त के अन्य विभक्तियों में रूप मिलते हैं। यथा—पन्थाम्, ऋ० १।२४।८ आदि पन्थासः, ऋ० १।१००।३॥

२. तुलना करो—'पन्थानौ पन्थानः' की 'राजानौ राजानः' से।

३. तुलना करो—'पथा पथे पथः' की 'हृदा हृदे हृदः' (हृद् प्रकृत्यन्तरमस्ति। काशिका ६।३।५०) के साथ।

४. इन चार के अतिरिक्त एक 'पथ' अकारान्त भी है। द्र० पथेःस्थाः ऋ० ५।५०।३॥ यहां सप्तमी का अलुक् है, यथा रथेष्ठा (रथेऽस्था)। समपथ उत्पथ आदि में समासान्त 'डच्' करके 'इन्' का लोप करके इसी अकारान्त 'पथ' प्रकृति का निर्देश किया है।

५. पाणिनि आदि वैयाकरणों की इस सूक्ष्मेक्षिका तक न पहुंचकर वाकरनागल आदि पाश्चात्य लोगों का यह कहना कि हम 'पाणिनि से अधिक जानते हैं' वृथा अभिमान मात्र है।

पूर्व संकेतित भाष्यस्थ-पद-साधुत्व-विचार

पूर्वमुद्रित भाष्य में जिन पदों पर टिप्पणी लिखी है—'इनका साधुत्व परिशिष्ट में देखना चाहिये' उन पदों के साधुत्व का विचार प्रथम निर्दिष्ट वर्गीकरण के अनुसार किया जाता है।

१—अपठित धातु का प्रयोग

गृभ्णाति—यजुर्वेद भाष्य १।६ के अन्वय में पाठ है—

सूर्येण विच्छिन्नान् पदार्थकणान् [प्रतिगृभ्णातु] प्रतिगृभ्णाति।

इस पाठ में **'प्रतिगृभ्णाति'** पद ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त हुआ है। पदार्थ में **'प्रतिगृभ्णातु'** प्रतिगृह्णाति पद का निर्देश किया गया है। वार्तिककार न **हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य'** (८।२।३२) लक्षण द्वारा वेद में भत्व का विधान किया है। तदनुसार 'गृभ्णाति' प्रयोग लोक में अनुचित है, ऐसा आक्षेप है।

समाधान—हम इसी वार्त्तिक का निर्देश करके और उसकी वैज्ञानिक व्याख्या करके दर्शा चुके हैं कि संस्कृत भाषा में किसी समय 'गृभ' स्वतन्त्र धातु व्यवहृत थी। निरुक्त १०।२३ के प्रमाण से उसका सद्भाव भी द्योतित कर चुके हैं। देखिए पृष्ठ ११।

पाणिनीय अथवा अन्य धातुपाठों में जो धातुएं पठित हैं, वे निदर्शनार्थ हैं। उनका परिगणन नहीं कर दिया गया कि इतनी ही धातुएं हैं, इनसे अतिरिक्त और कोई धातु है ही नहीं। धातुपाठ निदर्शनार्थ है, इसमें निम्न प्रमाण हैं—

क—धातुपाठ के अन्त में एक वचन है—**बहुलमेतन्निदर्शनम्** (१०।३२५)[1] इसकी व्याख्या में क्षीरस्वामी लिखता है—

यदेतद् भवत्यादिधातुपरिगणनं तद् बाहुल्येन निदर्शनत्वेन ज्ञेयम्। तेन अपठिता मिलि-क्लबि प्रभृतयो लौकिकाः[2] स्तम्भु-स्तुम्भु-आदयश्च सौत्राः[3]

---

१. इस लेख में जहां कहीं धातुपाठ सम्बन्धी अङ्क का निर्देश है, वह रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित और हमारे द्वारा सम्पादित क्षीरतरङ्गिणी के अनुसार है।

२. तुलना करो—मिलिक्लविक्षपिप्रभृतीनां धातुत्वं धातुगणस्यासमाप्तेः। वामनीय काव्यालङ्कार ५।२।२॥

३. द्रष्टव्य—अष्टा० ३।१।८२॥

चुलुम्पादयश्च वार्त्यकारीया धातव उदाहार्याः।[1] वर्धते हि धातुगणः। तथा च श्रीभोजः····· । पृष्ठ ३२२।

अर्थात्—जो यह भू आदि धातुओं का पाठ है, उसे निदर्शन रूप से जानना चाहिए।[3] इस कारण [धातुपाठ में] अपठित **मिल क्लब** आदि लौकिक, स्तम्भु स्तम्भु आदि सौत्र और चुलुम्प आदि वार्तिककारीय धातुएं उदाहरणीय हैं। धातुगण बढ़ता है। जैसा कि श्री भोज ने कहा है···।

इसके आगे भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण के ४ श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

ख—कई लोग तैत्तिरीय संहिता के क्षुर नामक व्याख्याता द्वारा **'दसये'** की **'निरवासयामि'** व्याख्या देखकर **'दस निरवासने'** धातु की कल्पना करते हैं। द्रष्टव्य सायणीय धातुवृत्ति पृष्ठ ३१८, चौखम्बा संस्करण।

ग—हरदत्त पदमञ्जरी (भाग १, पृष्ठ ६५१) में लिखता है—

धातुष्वपठितोऽपि क्षदिरस्मादेव वचनादभ्युपगम्यते।

अर्थात्—धातुपाठ में अपठित क्षद धातु **क्षदेश्च नियुक्ते** (३।२।१३५) इस वार्तिक वचन से स्वीकार की जाती है।

घ— लगभग ८-१० वर्ष हुए पाणिनि से प्राचीन काशकृत्स्न[4] का धातु-पाठ प्रकाश में आया है। उसमें पाणिनि के अपेक्षा लगभग ४५० धातुएं संख्या में अधिक हैं। यदि पाणिनि से भिन्न सभी धातुओं की गणना की जाए तो लगभग ८०० धातुएं ऐसी हैं, जो पाणिनि में पठित नहीं हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक—धातुपाठ में धातुओं का पाठ निदर्शनमात्र है। दूसरी—पाणिनीय धातुपाठ में अपठित होने मात्र से कोई धातु अव्यवहार्य नहीं हो सकती।

ङ—दशपादी उणादिपाठ में एक सूत्र है—

हन्तेरन् घ च। ८।१०४।। (घश्च पाठान्तर)

---

१. कात्स्न्यनेकाज्ग्रहणं चुलुम्पाद्यर्थम्। महा० ३।१।३५।।

२. क्षीरतरङ्गिणी की यह पृष्ठ संख्या हमारे द्वारा सम्पादित संस्करण की है। आगे भी सर्वत्र ऐसा ही समझें।

३. ऋषि दयानन्द ने भी यही अभिप्राय अपने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास (श. सं. भा १, पृष्ठ १०५) में शिव शब्द के निर्वचन में स्वीकार किया है। आख्यातिक में इस सूत्र की कई व्याख्याएं दर्शाई हैं।

४. यह कन्नड टीका सहित छप चुका है। हमने कन्नड टीका का संस्कृत अनुवाद करके ग्रन्थ रूप में छापा है। जो रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्राप्य है।

इस सूत्र में हन् धातु से रन् प्रत्यय और हन् के स्थान में घ आदेश कर के घर[1] शब्द का साधुत्व बताया है। कातन्त्र धातुपाठ की दुर्ग टीका में घर स्वतन्त्र धातु मानी गई है। क्षीरस्वामी लिखता है—

घर स्रवणे इति दुर्गः—क्षीरतरङ्गिणी १०।९८, पृष्ठ २९०।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि किसी भी धातु का प्रयोग केवल इस कारण असाधु नहीं माना जा सकता कि वह पाणिनीय धातुपाठ में अपठित है।

छान्दस शब्दों का लोक में प्रयोग—अब यह प्रश्न शेष रहता है कि जो शब्द इस समय छान्दस माने जाते हैं, उनका लोक में प्रयोग हो सकता है वा नहीं। इसका उत्तर स्पष्ट है कि 'मूलतः कोई शब्द केवल वैदिक और केवल लौकिक है" इस मन्तव्य में कोई प्रमाण नहीं।[2] और ना ही इनका विभाजक कोई निर्दोष लक्षण है। अतः शब्दसाम्यात् वैदिकों का लोक में प्रयोग असाधु नहीं कहा जा सकता।

यदि कहा जाए कि व्याकरण शास्त्र ही दोनों प्रकार के शब्दों का विभाजक है। वह जिस शब्द का **'छन्दसि मन्त्रे ब्राह्मणे'** आदि पदों का निर्देश करके साधुत्व दर्शाता है, वे छान्दस हैं, तदतिरिक्त लौकिक। यह कथन भी अनेकान्त है। व्याकरणशास्त्र का जितना वाङ्मय इस समय उपलब्ध है, उसमें छान्दसत्व के विषय में मतैक्य नहीं है। एक शास्त्रकार जिस पद का साधुत्व छान्दस मानकर दर्शाता है, तो दूसरा शास्त्रकार उसे छान्दस नहीं मानता। हम यहां केवल ४-५ प्रमाण उपस्थित करते हैं। उन

---

१. समस्त भाषा वैज्ञानिक गृह पर्याय 'घर' शब्द को गृह का अपभ्रंशरूप प्राकृत प्रयोग मानते हैं, परन्तु यह मिथ्या भ्रम है। इस भ्रम के दो कारण हैं। एक प्राकृत में प्रयोग होना, दूसरा वररुचि के प्राकृत व्याकरण में "गृहे घरोऽपतौ" (४।३२) सूत्र द्वारा गृह को घर आदेश करना। दशपादी उणादि सूत्र महाभाष्यकार पतञ्जलि द्वारा उद्धृत है (द्र० हमारे द्वारा सम्पादित, काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय की सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में प्रकाशित द०उ० वृत्ति का उपोद्घात पृष्ठ ३२)। अतः इस उणादिपाठ की प्राचीनता-प्रामाणिकता सन्देह से रहित है। युद्धार्थक 'जङ्ग' और पवित्रतार्थक 'पाक' प्रभृति अनेक ऐसे शब्द हैं, जो मूलतः संस्कृत भाषा के होते हुए भी वर्तमान वाङ्मय में विरल प्रयुक्त होने से तथा संस्कृतोद्भव भाषाओं में मूल रूप में व्यवहृत होने से अन्य भाषाओं के समझे जाते हैं। इसके विशेष परिज्ञान के लिए हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' (भाग १ पृष्ठ ३७-४१) देखना चाहिए।

२. इसके विस्तार के लिए देखिये सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ३-६।

से यह भले प्रकार ज्ञात हो जाएगा कि किसी पद के छान्दसत्व के विषय में परस्पर कितनी भिन्नता है। यथा—

आपिशलि ने **तवीति रवीति स्तवीति शमीति** (**शमीध्वम्**) **अमीति** प्रभृति पदो को छान्दस मानकर **तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु छन्दसि**[1] सूत्र में छन्दसि पद पढ़ा है। परन्तु पाणिनि **तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके** (७।३।९५) में 'छन्दसि' पद नहीं पढ़ता। पाणिनि के सभी व्याख्याकार **तवीति रवीति स्तवीति** प्रयोगों को तो लोक में प्रयोगार्ह मानते हैं, परन्तु **शमीति अमीति** दो को छान्दस कहते हैं, क्योंकि शम के 'श्यन्' और अम के 'शप्' विकरण का जब तक लोप न हो, तब तक धातु से अव्यवहित परे सार्वधातुक प्रत्यय नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि जैसे पाणिनीयों ने **तवीति रवीति स्तवीति** को लोक प्रयोगार्ह स्वीकार किया है, उसी प्रकार वे 'शम' और 'अम' धातु का आदादिकत्व भी स्वीकार कर लेते। उस अवस्था में एक सूत्रनिर्दिष्ट पदों की एकरूपता हो जाती। धातुपाठ के पूर्वनिर्दिष्ट **बहुलमेतन्निदर्शनम्** (१०।३२५) सूत्रानुसार इनके आदादिकत्व मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

विशेष—पदकारों की शैली है कि वे मन्त्र के संहिता पाठ में जिन दीर्घ आदि कार्यों को छान्दस समझते हैं, अथवा उनके समय के व्याकरणशास्त्र के अनुसार जो कार्य छान्दस माने गये थे, उन्हें पदपाठ करते समय लौकिक पदवत् पढ़ते हैं।[2] इस नियम के अनुसार यजुर्वेद १।१५ में प्रयुक्त **शीमष्व** पद का पदपाठ है—**शमीष्व। शमिष्वेति शमिष्व**। जिसे स्वभावतः दीर्घ मानते हैं उन्हें पदकार ह्रस्व नहीं करते (द्र० वाज० प्राति० ३।१२९ अनन्त टीका)।

इस पदपाठ से प्रतीत होता है कि यजुर्वेद का पदकार **शमीष्व** में दीर्घत्व मात्र कार्य छान्दस मानता है और उसके **शमिष्व** रूप को लौकिक मानता है।[3]

---

१. यह सूत्र काशिका ७।३।९५, धातुवृत्ति पृष्ठ २४१ (काशी संस्क०) में उद्धृत है। आपिशलि के अन्य उपलब्ध सूत्रों और वचनों का संग्रह हमारे संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास में पृष्ठ ९८-१०१ तक देखें।

२. इस विषय में पदकारों के पदपाठ शैली में परस्पर कुछ कुछ भिन्नता है। ऋग्वेद के पदपाठ में 'मामहानः' का सीधा 'ममहानः' 'ऋतावृधः' का 'ऋतवृधः' आदि निर्देश किया जाता है। यजुर्वेद के पदपाठ में पहले मन्त्रगत मूल पाठ पढ़ा जाता है, तत्पश्चात् लौकिक रूप का निर्देश करके इति पद द्वारा उसका पुनः पाठ किया जाता है। विश्वावसुः। विश्ववसुरिति विश्वऽवसुः।

३. द्रष्टव्य—सुशमि शमिष्व। तै० सं० १।१।५॥

परन्तु वर्तमान व्याकरणों में पदकार द्वारा लौकिक रूपेण स्वीकृत **शमिष्व** रूप में इडागम विधायक कोई लक्षण नहीं है। पदकार के निर्देश से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक—पूर्व व्याकरणों में **रुदिति-स्वपिति** के समान **शमिष्व** में भी इडागम विधायक लक्षण था। दूसरी—शम धातु अदादिगण में भी पढ़ी जाती थी। अन्यथा विकरण के लोप हुए विना इडागम का सम्भव नहीं।

हमारे विचार में तो शम को आदादिक मान लेने पर **स्तवीति** और **रुदिति** के समान क्रमशः **शमीष्व** और **शमिष्व** दोनों पद प्रयोगार्ह हो जाते हैं।

ख—**दीधीङ् वेवीङ् इन्ध** ये धातुएं छान्दस हैं, ऐसा पतञ्जलि का मत है।[1] पाणिनि ने इन्हें न तो धातुपाठ में छान्दस कहा है, न सूत्रपाठ में। इतना ही नहीं, केवल लौकिक पदों का अन्वाख्यान करने वाला कातन्त्र व्याकरण[2] इन धातुओं को लौकिक मानकर इनके रूपों का विधान करता है।[3] काशकृत्स्न और चान्द्र व्याकरण[4] में भी इन धातुओं के छान्दसत्व का कोई संकेत नहीं है। वे भी इन्हें लौकिक मानते हैं।[5]

ग—पाणिनि ने स्वादिगण की **अह व्याप्तौ** से गण के अन्त तक समस्त धातुओं को छान्दस माना है। उसने **अह व्याप्तौ** से पूर्व **छन्दसि** (५।२९) अधिकार सूत्र पढ़ा है। परन्तु पाणिनि से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न और उत्तर-वर्ती कातन्त्रकार तथा चन्द्राचार्य इनको लौकिक धातुएं मानते हैं।

घ—पाणिनीय धातुपाठ की पश्चिमोत्तर शाखा में कृञ् धातु भ्वादि में पढ़ी जाती थी। पाणिनीय सम्प्रदाय के क्षीरस्वामी, दशपादीउणादिवृत्ति-कार, दैवकार, पुरुषकार का कर्त्ता लीलाशुक मुनि आदि अनेक ग्रन्थकार

---

१. दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वात्। महाभाष्य १।१।६।। इन्धेश्छन्दोविषयत्वात् महाभाष्य १।२।६।।

२. छान्दसाविति। शर्ववर्मणस्तु वचनाद् भाषायामप्यवसीयेते। नह्ययं छान्द-सान् शब्दान् व्युत्पादयति। कातन्त्रवृत्ति परिशिष्ट, पृष्ठ ५३०, कलकत्ता नागराक्षर संस्क०। त्रिलोचनदास ने कातन्त्र को शर्ववर्म प्रोक्त माना है, यह भूल है। वह तो वृत्तिकार है। मूल ग्रन्थ महाभाष्य से भी प्राचीन है। देखिए—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४००, ४०४, ४०७।

३. दीधीवेव्योश्च। कातन्त्र ३।५।१५।। परोक्षायामिन्धिश्रन्थिग्रन्थिदम्भीनाम-गुणे। कातन्त्र ३।६।३।।

४. चान्द्र के लौकिक भाग में सूत्र है—लिटीन्धिश्रन्थग्रन्थाम्। ५।३।२५।।

५. विशेष देखिए सं० व्या० शा० का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २९, ३०, ३१।

कृञ् को भ्वादि में पढ़ते हैं।[1] पाणिनीयेतर जैन शाकटायन और हैम शब्दानुशासन के धातुपाठों में भी इसका भ्वादि में पाठ उपलब्ध होता है।[2] इस प्रकार कृञ् धातु का भ्वादि में पाठ होने से **करति करतः करन्ति** प्रयोग अन्य धातु के प्रयोगों के समान लौकिक हैं। पुनरपि लौकिक संस्कृत के ग्रन्थों में इनका प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। हां, पाली और प्राकृत आदि भाषाओं में इसके भ्वादि गण के प्रयोग होते हैं।

ङ—पाणिनीय सम्प्रदाय के अनुसार **देवेभिः कर्णेभिः** प्रयोग वैदिक हैं, परन्तु केवल लौकिक शब्दों का अन्वाख्यान करनेवाला कातन्त्र व्याकरण **भिस् एस् वा**(२।१।१८)सूत्र द्वारा इनको लौकिक भी मानता है।[3] बौधायन धर्म सूत्र १६।३२ में उद्धृत श्लोक में **तेभिः** प्रयोग उपलब्ध होता है।[4] पाली भाषा में **देवेभि देवेहि** दोनों और प्राकृत में देवेहि प्रयोग होते हैं। जो **देवेभिः** के अपभ्रंश हैं। पाणिनि के ७।१।११ नियम के अनुसार **इमैः** प्रयोग नहीं होना चाहिए, परन्तु महाभारत आदि० १२९।२३ तथा चरक संहिता चिकित्सा स्थान २१।१२७ में **इमैः** पद प्रयुक्त है।

लौकिक वैदिक भेद का कारण—हम चिरकाल के अनुशीलन के पीछे इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि आरम्भ में शब्दों में तथाकथित वैदिक लौकिक विभाग नहीं था। उत्तरकाल में भाषा के उत्तरोत्तर ह्रास अथवा संकोच होने से जिन शब्दों का लोक में व्यवहार लुप्त हो गया, प्राचीन ग्रन्थ मात्र में जिनके कतिपय प्रयोग सुरक्षित रह गए। उन्हें ही उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने **छान्दस-वैदिक** अथवा **आर्ष** प्रयोग की पदवी प्रदान की। इसलिये जैसे जैसे भाषा से शब्दों का लोप होता गया, वैसे-वैसे वैदिकत्व की वृद्धि होती गई। यद्यपि कातन्त्र व्याकरण पाणिनि से उत्तरवर्ती है, परन्तु वह पाणिनि से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न व्याकरण का संक्षेप है। अतः इसमें पाणिनि पूर्ववर्ती कुछ अंश सुरक्षित रह गया है॥ यथा—**देवेभिः** में भिस् का सद्भाव।

---

१. क्षीरतरङ्गिणी १।६३९। पृ० १३० (अत्रस्था टिप्पण्यपि द्रष्टव्या) द० उ० वृत्ति पृष्ठ १७, ५२ इत्यादि। दैव पुरुषकार पृष्ठ ३८। कृञ् करणे भौवादिकः, सायण ऋग्भाष्य १।२३।६॥

२. शाक० धातु संख्या ५७७। हैम धातु १ ८४२(विक्रम विजय मुनि सं०)।

३. कातन्त्र के टीकाकारों ने इस तत्त्व को न समझ कर 'वा' पद की अन्यथा संगति लगाने की जो क्लिष्ट कल्पना की है, वह चिन्त्य है।

४. मृगैः सह परिस्पन्दः संवासस्तेभिरेव च। तैरेव च सदृशीवृत्तिः प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणम्। यहां "तेभिः" और "तैः" दोनों शब्द प्रयुक्त हैं।

विवेचना का सार—इस विस्तृत विवेचना से स्पष्ट है कि शब्दों के लौकिक और वैदिक विभाग करनेवाला कोई सुनिश्चित प्रमाण नहीं है। मीमांसकों के **य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः** (१।३।३०) मत के अनुसार दोनों का एकत्व ही प्रामाणिक है।[1] अतः वैदिकरूप से अभिमत शब्दों का लोक में प्रयोग असाधु नहीं है।

धत्तः धत्तवान् विधत्तवान्—यजुर्वेदभाष्य १।१८ के द्वितीय अन्वय में पाठ है—**एवं सोऽग्निर्धत्तः**[2] **सन् सुखमुपदधाति**।

यजुर्वेदभाष्य ४।३१ के पदार्थ में पाठ है—**(अदधात्) धत्तवान्, दधाति वा**।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदनित्यत्व विचार प्रकरण में **स पर्यगात्** मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—**(व्यदधात्) विधत्तवान्**।

पाणिनि के **दधातेर्हि** (७।४।४२) नियम के अनुसार **हितः हितवान् विहितवान्** प्रयोग होने चाहियें, ऐसा आक्षेप होता है।

समाधान—**दा दाने** का निष्ठा में प्रयोग होता है—**दत्तः दत्तवान्**। पाणिनि ने दो **दद् घोः** (७।४।४६) से दा के स्थान में **दद्** आदेश करके दा समानार्थक **दद्** धात्वन्तर का निर्देश किया है।[3] इसी प्रकार **धा** धातु के स्थान में तत्समानार्थक **धद्** प्रकृत्यन्तर समझनी चाहिये। **धद्** प्रकृत्यन्तर का ऋग्वेद ४।२७।५ में प्रयोग उपलब्ध होता है—**प्रति धत् पिबध्यै**।[4]

सायण ने इसका अर्थ **प्रतिदधातु** और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **प्रतिदधाति** दर्शाया है। इससे यह स्पष्ट है कि **धत्** का प्रयोग डुधाञ् धातु के अर्थ में हुआ है। यह **धत्** प्रयोग डुधाञ् धातु से किसी भी लकार में अञ्जसा

---

१. मीमांसकों के इस सिद्धान्त की पुष्टि निरुक्त (१।२ तथा १।१६), वाजसनेय प्रातिशाख्य (१।३) तथा उनकी टीकाओं से भी होती है। विस्तृत विचार के लिए देखिए सं० व्या० शा० का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३-६॥

२. आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी ने स्वसम्पादित यजुर्वेदभाष्य में 'धत्तः' पद को अप्रयुक्त मान (अशुद्ध नहीं) कर 'धृतः' संशोधन दर्शाया है।

३. हमारी वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार। दद् धात्वन्तर का दैवादिक 'दद्यामि' रूप महाभारत सभा पर्व ४७।२९ में उपलब्ध होता है। आदादिक का 'दद्मि' रूप रामा० १।२७।१५ में मिलता है।

४. महाभाष्यकार ने भी 'नेषतु' 'नेष्टात्' वैदिक प्रयोगों के आधार पर निष धात्वन्तर की कल्पना की है (३।२।१३५)। द्र० यही प्रकरण पृष्ठ ९।

उपपन्न नहीं होता। धद् प्रकृत्यन्तर स्वीकार करने पर उसे आदादिक मान कर शब्लुक् और अडभाव पक्ष में लुङ् के प्रथम पुरुष के एकवचन में विना किसी क्लिष्ट कल्पना के धद् रूप निष्पन्न हो जाता है।

दा और धा धातु के जो रूप इस समय स्वोकृत हैं, उनमें दा दद् ददा और धा धद् दधा तोन तीन धातुओं के रूप सम्मिलित हैं।[1] उनमें दत्तः दत्ताम् दत्ते आदि उसी दद् प्रकृत्यन्तर के रूप हैं, जिसका निष्ठा के दत्तः दत्तवान् रूपों में पाणिनि ने आदेश रूप से विधान किया है। इसी प्रकार धत्तः धत्ताम् धत्ते आदि रूप भी पाणिनीय शास्त्र की पूर्व निर्दिष्ट वैज्ञानिक व्याख्यानुसार प्रदर्शित धद् प्रकृत्यन्तर के हैं। ये दद् और धद् प्रकृतियां आदादिक[2] और अनिट् हैं। इसी धद् प्रकृत्यन्तर के निष्ठा के वास्तविक रूप धत्तः धत्तवान् हैं, जो अञ्जसा उपपन्न होते हैं। धद् प्रकृत्यन्तर का ज्ञापन हो जाने पर धत्तः धत्तवान् रूपों के साधुत्व में कोई शङ्का नहीं रहती। हितः हितवान् रूप धा के नहीं हैं, अपितु आदेश रूप से प्रज्ञापित हि प्रकृत्यन्तर के हैं।

संसेध्यताम्, संसेधनीयाः—यजुर्वेदभाष्य १।५ के पदार्थ और अन्वय में पाठ है—**संसेध्यताम्**। यजुर्वेद २।१७ तथा ३।१६ के भावार्थ में **व्यवहाराः संसेधनीयाः** और श्यामजी कृष्णवर्मा के नाम लिखे पत्र में **संसेधनीयानि** (ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १३२ पंक्ति १५ द्वि० सं०) पाठ उपलब्ध होता है। इनके विषय में वैयाकरणों का कहना है कि पूर्वोक्त पदों के स्थान में क्रमशः **संसाध्यताम् संसाधनीयाः संसाधनीयानि** प्रयोग होने चाहियें।

समाधान—इनमें प्रथम **संसेध्यताम्** प्रयोग **षिधु गत्याम्** (१।३८) इस भौवादिक धातु के णिजन्त के कर्म में उपपन्न होता है **सिध्यतेरपारलौकिके** (६।१।४९)सूत्र में श्यन् विकरण का प्रयोग होने से दो बातें व्यक्त होती हैं।

---

१. तुलना करो—पृष्ठ १७ पर निर्दिष्ट पथिन् के रूपों में पन्था पन्थन् पथिन् पथ् शब्दों के रूपों का संग्रह।

२. (क) दद् का आदादिक रूप 'दद्भिः' रामा० १।२७।१५॥

(ख) अदादि आकृतिगण है। उसमें 'जक्ष' के पास 'तक्ष' का पाठ मानने से 'जक्षति' के समान 'तक्षति' रूप बहुवचन में उपपन्न हो जाता है। उस अवस्था में 'चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति' (ऋ० १।१६२।६)में बहुवचन के स्थान पर एकवचन रूप व्यत्यय की आवश्यकता नहीं रहती। काशकृत्स्न और कातन्त्र धातुपाठों में जुहोत्यादि अदादि के अन्तर्गत माना गया है। इसी दृष्टि से नवगणी धातुपाठः' प्रवाद उपपन्न हो जाता है।

एक—आत्त्व, दैवादिक **षिधु संराद्धौ** (४।८३) को ही होता है। द्वितीय—भौवादिक सिध भी दैवादिक के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अन्यथा जिसका पारलौकिक अर्थ होगा, उसी सिध को आत्त्व होगा। यदि भौवादिक का पारलौकिक अर्थ नहीं है, तो न उसे आत्त्व की प्राप्ति होगी, न श्यन् निर्देश से उसके व्यावर्तन की आवश्यकता है। यह है वैयाकरण मत से उपपत्ति। हमारे मत में **षिधु** का **सेधयति** और **साध** का **साधयति** दो धातुओं से दो प्रयोग अञ्जसा सिद्ध हो जाते हैं। आत्त्वविधान इसी का ज्ञापक है।

संसेधनीयाः संसेधनीयानि ये दोनों प्रयोग दैवादिक **षिधु संराद्धौ** (४।८३) से विना कल्पना के सिद्ध हो जाते हैं।

जाययति—यजुर्वेदभाष्य २।१४ के पदार्थ में हस्तलेखानुसार पाठ है—
(वाजजितम्) यो येन वा वाजं संग्रामं जाययति तम्।

इसके विषय में वैयाकरणों का कथन है कि पाणिनि के **क्रीङ्जीनां णौ** (६।१।४८) नियम के अनुसार **जापयति** प्रयोग होना चाहिये।

समाधान—वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार इस सूत्र का अर्थ होगा—क्री इङ् और जि धातु को आत्त्व होकर जो लुप्त का-आ-जा धात्वन्तर व्यक्त होते हैं उनका प्रयोग भी णिच् में साधु है। पाणिनि ने जि के **जाययति** प्रयोग के उत्सन्न हो जाने और जा के **जापयति** प्रयोग के व्यवहृत होने से आत्त्व विधान द्वारा उत्सन्न और व्यवह्रियमाण दोनों शब्दों की व्यवस्था दर्शाई है। जो शब्द दो दो रूप में व्यवहृत थे, उनके साधुत्व ज्ञापन के लिए आत्व के विकल्प का विधान करके प्रयुक्त धातु और लुप्त धातु दोनों के शब्दों की व्यवस्था की है। यथा—**चिस्फुरोर्णौ** (६।१।५४) चि का **चाययति** लुप्त चा का **चापयति**। इस व्यवस्था के अनुसार उत्सन्न होने मात्र से **जाययति** आदि प्रयोग व्यवहार्य नहीं, साधु नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। अर्थात् उक्त कथन में कोई हेतु नहीं।

२—आत्मनेपद परस्मैपद का अस्थान में प्रयोग

कौनसी धातुएं परस्मैपदी हैं, और कौनसी आत्मनेपदी तथा किस धातु का किस अवस्था में आत्मनेपद में प्रयोग होता है, किस अवस्था में परस्मैपद में। इसकी व्यवस्था आचार्य पाणिनि ने बहुत विस्तार से दर्शाई है। उस व्यवस्था को एकान्त प्रमाण मानकर आचार्य दयानन्द सरस्वती के कुछ पदों पर वैयाकरण आक्षेप करते हैं।

अस्थान में आत्मनेपद—आचार्य भाष्यकार ने कतिपय परस्मैपदी धातुओं का आत्मनेपद में प्रयोग किया है। यथा—

दृंहते बृंहते हर्षन्ताम् उपदिशताम्—दृह दृहि बृह बृहि वृद्धौ (१।४८५) धातुएं परस्मैपदी हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेदभाष्य १। २ के अन्वय में दृंहस्व दृंहते, २।१८ के पदार्थ में (बर्हिषि) बृहन्ते वर्धन्ते··· ···तथा २।२२ के पदार्थ में (बर्हिः) बृहन्ते सर्वे पदार्थाः ·····प्रयोग किए हैं। इसी प्रकार २।१३ के पदार्थ में परस्मैपदी हृषु अलीके (१।४६८) का (मादयन्ताम्) हर्षन्ताम्, तथा २।१० के पदार्थ में परस्मैपदी दिश अतिसर्जने (६।३) का (ह्वयताम्) स्पर्धताम उपदिशताम् आत्मनेपद में प्रयोग किया है।

इस प्रकार के परस्मैपदी धातुओं के आत्मनेपद के अनेक प्रयोग इस भाष्य में उपलब्ध होते हैं।

अस्थान में परस्मैपद—यजुर्वेदभाष्य २।१३ के पदार्थ में (प्रतिष्ठ) प्रतिष्ठति में प्रपूर्वक तिष्ठ से परस्मैपद का निर्देश किया है। यहां **समवप्रविभ्यः स्थः** (अ० १।३।१२) लक्षण अनुसार आत्मनेपद का प्रयोग होना चाहिये।

समाधान—अस्थान में जो आत्मनेपद और परस्मैपद के प्रयोग समझे जाते हैं, वे वस्तुतः अस्थान में अथवा असाधु नहीं हैं। इसके विज्ञान के लिए वैयाकरणों के निम्न नियम द्रष्टव्य हैं—

१—पाणिनि ने आत्मनेपद परस्मैपद का जो अनुक्रमण किया है, वह प्रायिक है, नियामक नहीं है। अतएव पाणिनि द्वारा परस्मैपदियों में पठित **षस्ज गतौ** (१।१२२) का महाभाष्यकार द्वारा **यदभिप्रायेषु सज्जते** (अ० ३।१ २६) वाक्य में और **प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु** (गीता ३।२९) में प्रयुक्त आत्मनेपद प्रयोग उपपन्न होता है। अन्यथा इन्हें भी असाधु प्रयोग स्वीकार करना होगा।

२—**चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि** (२।६) धातु में इकार अनुदात्त और इत्संज्ञक है। अनुदात्तेत् होने से ही इस धातु से **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (१।३।१२) से आत्मनेपद हो ही जाता, पुनः ङित् करण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि **आत्मनेपद विधि अनित्य है**। क्षीरस्वामी लिखता है—

गणकृत्यमनित्यमिति ज्ञापनार्थं च। यथा 'स एवायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम्' (सुभाषित ६३१)। क्षीरतरङ्गिणी २।६।

अर्थात्—गणकार्य के अनित्य ज्ञापन के लिए ङित् करण है। इससे **'स एवायं नागः सहति'** में सहते के स्थान में सहति प्रयोग साधु है।

३—वामन काव्यालङ्कार सूत्र में लिखता है—

वलेरात्मनेपदमनित्यं ज्ञापकात्। चक्षिङोऽनुबन्धकरणम्। ५।२।३।४।

अर्थात्—वल धातु का आत्मनेपद अनित्य होने से **वलति** प्रयोग साधु है। अनित्यत्व का ज्ञापन चक्षिङ् धातु में ङकार अनुबन्ध से होता है।

४—धातुपाठ प्रवचनकर्ताओं में आत्मनेपदी और परस्मैपदी धातुओं के विषय में बहुत्र विसंवाद उपलब्ध होता है। यथा—

पाणिनि ने **वद व्यक्तायां वाचि** (१।७३९) को परस्मैपदी माना है और **भासनोप०** (अ० १।३।४७)आदि सूत्रों द्वारा अर्थ विशेष में आत्मनेपद का विधान किया है। काशकृत्स्न ने अपने धातुपाठ में इसे उभयपदी धातुओं में पढ़ा है।[1] द्रष्टव्य कन्नड टीका, पृष्ठ १६१।

इसी प्रकार पाणिनि ने **वस निवासे** (१।७३३) तथा **टुओश्वि गति-वृद्ध्योः** (१।७४१) को परस्मैपदी माना है। काशकृत्स्न इन्हें भी उभयपदी धातुओं में पढ़ता है। पृष्ठ १६१ (वही)।

रामायण महाभारत में परस्मैपद आत्मनेपद में व्यत्यास प्रायः उपलब्ध होते हैं। विस्तरभिया हम उदाहरण नहीं दर्शाते।

इस विवेचना से सिद्ध है कि पाणिनि का आत्मनेपद परस्मैपद अनुक्रमण प्रायिक है। अतः उनका अन्यथा प्रयोग असाधु नहीं कहा जा सकता। अन्यथा भगवान् वाल्मीकि और कृष्णद्वैपायन व्यास सदृश शिष्टतम व्यक्तियों के शतशः प्रयोग असाधु मानने पड़ेंगे।

३—गण में अपठित धातु का प्रयोग

इस भाष्य में अनेक धातुओं के ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जो उन धातुओं के उन उन गणों में पाठ न होने से नहीं बनते। यथा—

हृषन्तु—यजुर्वेदभाष्य २।१३ के पदार्थ में **(मादयन्ताम्)हृषन्तु**[2] पाठ है। हृषु धातु अलीक अर्थ में भ्वादि (१।४६८) में पढ़ी है। उसका **हर्षति** प्रयोग होता है। **हृष तुष्टि** अर्थ में दिवादि (४।१२२) में पढ़ी है। उसका **हृष्यति** प्रयोग होता है। यहां **हृषन्तु** प्रयोग तुदादिगण का मानकर किया है, परन्तु तुदादि में इसका पाठ नहीं है।

---

१. काशकृत्स्न के मतानुसार महाभारत के 'वदसे' अनु० १९।२६, भीष्म ८३।३, 'वदस्व' द्रोण ९१।३, उद्योग १६३, १० आदि में प्रयुक्त वद धातु के आत्मनेपद प्रयोग सर्वथा साधु हैं। उनमें आर्षत्वात् साधु' कल्पना की आवश्यकता ही नहीं है।

२. भाष्य के सभी हस्तलेखों में 'हृषंन्ताम्' पाठ है। उसमें आत्मनेपद विधातव्य है। उसकी निष्पत्ति पूर्ववत् समझें।

विरुध्यति, विरुध्यामः—यजुर्वेदभाष्य १।२ में (द्वेष्टि) विरुध्यति, (द्विष्मः) विरुध्यामः, २।१५ के भाष्य में (द्विष्मः) विरुध्यामः २।२५ के भाष्य के हस्तलेख में (द्वेष) विरुध्यति,(द्विष्मः) विरुध्यामः[1] पाठ उपलब्ध होते हैं। रुध" धातु का पाठ दिवादि में नहीं उपलब्ध होता।

हिंसामः—यजुर्वेदभाष्य १।८ में (धूर्वामः)**हिंसामः** पाठ उपलब्ध होता है। हिंसि हिंसायाम् रुधादिगण (७।२४) में पठित है। उसका रूप **हिंस्मः** होता हैं। इस धातु का दूसरा पाठ चुरादिगण (१०।२२०) में उपलब्ध होता है। उसका **हिंसयामः** प्रयोग बनता है।

पृषन्ति—यजुर्वेदभाष्य २।१६ के पदार्थ में **पृषन्ति सिञ्चन्ति** का प्रयोग उपलब्ध होता है। **पृषु सेचने** धातु भ्वादि (४६४)की है। अतः पर्षन्ति प्रयोग होना चाहिए।

कृणु—यजुर्वेदभाष्य २।२० के अन्वय में ग्रन्थकार ने **कृणु** प्रयोग किया है। **कृ** धातु के स्वादि में अपठित होने से यह प्रयोग असाधु है।

समाधान—धातुपाठों में जो तत्तद् गणों में धातुएं पठित हैं, वे निदर्शनार्थ हैं, परिगणनार्थ नहीं, अर्थात् सभी गण आकृति गण हैं, यह पूर्व लिख चुके (पृष्ठ १८, १९)। अतः किसी गण में अपठित धातु का उस गण के अनुरूप प्रयोग दोषावह नहीं है। शतशः शिष्ट प्रयोगों में इस प्रकार का व्यत्यास देखा जाता है।

रुध—धातु के दिवादि के रूप महाभारत में बहुधा उपलब्ध होते हैं। यथा—

ब्राह्मणं प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यति। विदुरनीति १।९०।।

इसी प्रकार **विरुध्यति** शान्ति० ७३।८, **विरुध्यते** शान्ति० १६८।१२, २४२।१०, **विरुध्यतु** अनु० ९४।३१ इत्यादि।[2]

हिंसि—धातु चुरादि में पठित है। चुरादिगण में जितनी इदित् धातुएं हैं, उन सबसे पक्ष में शप् होता है। ऐसा समस्त वैयाकरणों का मत है। यथा-

इदित्पाठादनित्यणिजन्ताश्चुरादय इति ज्ञाप्यते। क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ २७९।

चिन्त स्मृत्यामिति सानुषङ्ग एव पठितव्ये इदित्पाठान्नलोपाभावार्थादस्य णिच् पाक्षिकः............तेन चिन्तति चिचिन्त चिन्तिता इत्याद्यपि भवति। माधवीया धातुवृत्ति पृष्ठ ३७८ चौखम्बा संस्करण।

---

१. मुद्रित पाठ 'विरुणद्धि, विरुन्ध्मः' ही है।

२. तुलना करो पच का दैवादिक 'पच्यन्ति' प्रयोग, महा०, उद्योग. १०९।१४।।

हृषन्तु पृषन्ति—प्रयोग तुदादि के आकृतिगण होने से अनायास उपपन्न होते हैं। गण के अन्त में जो वृत् पढ़ा है। वह मुचादि की समाप्ति के लिए है, ऐसा सभी धातुवृत्तिकारों का मत है।[1] अतः तुदादि में हृष और पृष का अन्तर्भाव जानना चाहिये।

कृणु—पूर्व नियमानुसार कृ का स्वादि में भी अन्तर्भाव जानना चाहिए अथवा इसे मन्त्रपद का अनुषङ्गरूप मानना चाहिए।

वास्तविकता यह है कि धातुपाठ में धातुओं के दश विभागों द्वारा यह दर्शाया है कि धातु के आख्यातरूप दस प्रकार के होते हैं। जिन धातुओं का जिस जिस गण के अनुरूप प्रायिक प्रयोग उस समय की भ षा में उपलब्ध था, उन धातुओं को वैयाकरणों ने उस उस गण में पढ़ दिया। अत एव धातु-वृत्तिकार चुरादिगण के अन्त में पठित **बहुलमेतन्निदर्शनम्** (१०।३२५) की व्याख्या में लिखते हैं, **वर्धते हि धातुगणः**। अतः उपर्युक्त सभी प्रयोग नितान्त असन्दिग्धरूपेण साधु हैं।

४—स्वार्थिक णिच् का अभाव तथा भाव

चुरादिगण की धातुओं से जो स्वार्थ में णिच् होता है, उसका व्यतिक्रम भी देखा जाता है। जो धातुएं चुरादि में पढ़ी हैं, उनसे नहीं भी होता और जो नहीं पढ़ी हैं उनसे भी हो जाता है। वैयाकरणों ने इसकी व्यवस्था इस प्रकार दर्शाई है—

(क) क्षीरस्वामी **चिति स्मृत्याम्** (१०।२) पर लिखता है—**इदित् पाठाद् अनित्यण्यन्ताश्चुरादय इति ज्ञाप्यते**। क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ २७९।

(ख) सायण अपनी धातुवृत्ति (पृष्ठ ३७८) में लिखता है—

इदित्पाठान्नलोपाभावार्थादस्य णिच् पाक्षिकः।

क्षीरस्वामी ने इदित् पाठ से सामान्य रूप से चौरादिक णिच् का अनित्यत्व स्वीकार किया है, सायण ने केवल इदित् धातुओं में णिच् का पाक्षिक अभाव माना है। हमारे विचार में क्षीरस्वामी का सामान्य ज्ञापक ठीक है। क्योंकि सामान्य ज्ञापन द्वारा प्रयोग क्षेत्र अधिक व्याप्त होता है। **बहुगणवतुडति संख्या** (१।१।२३) के भाष्य से भी यही ध्वनित होता है कि विशेषापेक्ष ज्ञापक की अपेक्षा सामान्यापेक्ष ज्ञापक वरिष्ठ होता है।

उक्त ज्ञापक के अनुसार **चौरादिक हिसि हिंसायाम्** (१०।२२०) धातु से णिच् का अभाव मानने पर यजुर्वेदभाष्य १।८ में प्रयुक्त **हिंसामः** प्रयोग सवथा साधु है।

---

१. वृत् मुचादयो वर्तिताः। क्षीर० पृष्ठ २५५।

(ग) बहुलमेतन्निदर्शनम् (१०।३२५) की व्याख्या में क्षीरस्वामी लिखता है—

भूवादिनवगणोक्ताः स्वार्थे णिजन्ता अपि भवन्ति, चुरादिपाठस्तु निदर्शनार्थं इत्येके। रामो राज्यमकारयत् (रामा० युद्ध १२८।१०५), वाहयति, वाचयति, भेदयति कृत्यम्, रञ्जयति वस्त्रम्, तापयति, घातयति। पृष्ठ ३२२।

इस वचन से स्पष्ट है कि धातुपाठ की सभी धातुओं से स्वार्थ में णिच् का प्रयोग हो सकता है।

५—ल्यप् आदेश का अभाव तथा प्रत्ययान्तर कल्पना

प्रापयित्वा—यजुर्वेदभाष्य १।२४ के भावार्थ में प्रापयित्वा प्रयोग है। इसके विषय में वैयाकरणों का कहना है कि यहां **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (७।१।३७) नियम से ल्यप् होकर **प्राप्य** प्रयोग होना चाहिए।

समाधान—रामायण महाभारत आदि प्राचीन वाङ्मय में शतशः ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जहां समास होने पर **क्त्वा** को ल्यप् आदेश नहीं देखा जाता और समास न होने पर भी **क्त्वा** के स्थान में **ल्यप्** का प्रयोग उपलब्ध होता है।

समास में ल्यप् का अभाव—यथा—

प्रत्यसित्वा प्रायश्चित्तं जुहुयुः। आश्वलायन।[1]

उत्स्मयित्वा—रामा० १।१।६४॥ **उपासित्वा**—रामा० १।२।६६॥ **विसर्जयित्वा**—रामा० १।८।२२॥ इत्यादि बहुत्र।

विना समास के ल्यप् का प्रयोग—यथा—

संध्यावधूं गृह्यकरेणभानुः। पाणिनीय जाम्बवतीविजय।[2]

आज्येनाक्षिणी आज्य।[3] आश्वलायन ?

अर्च्य तान् देवान् गतः। काशिका ७।१।३८ में उद्धृत।

उष्य—रामा० १।२७।१॥ **दृश्य**—रामा० १।४८।११॥

काशिकाकार आदि वैयाकरण समास के विना ल्यप् के प्रयोग की उपपत्ति इस प्रकार दर्शाते हैं—

वाच्छन्दसीति नोक्तं, सर्वोपाधि व्यभिचारार्थम्। तेनाऽसमासेऽपि ल्यब्भवति। अर्च्य तान् देवान् गतः। ७।१।३८॥

---

१. तन्त्रवार्तिक १।३।८, पृष्ठ २५६ (पूना संस्क) पर उद्धृत।
२. नेमि साधुकृत रुद्रट की काव्यालङ्कार टीका में।
३. आज्येनाक्षिणी आज्य इति असमासेऽपि (ल्यप्) प्रयुक्तः। तन्त्रवार्तिक (१।३।८, पृष्ठ २५६ पूना संस्करण)।

अर्थात्—[पूर्व सूत्र (७।१।३७) से समास में ल्यप् का विधान किया है] उसका यहां विकल्प विधान न करके क्त्वाऽपि ग्रहण सब उपाधियों के के व्यभिचार के लिये है। इसलिए असमास में भी ल्यप् हो जाता है। यथा —**अर्च्य तान् देवान् गतः।**

वृत्तिकार ने **अपि** शब्द को सर्वोपाधि-व्यभिचारार्थ अन्यत्र भी कई स्थानों में माना है। यथा—

अपि शब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः। काशिका ३।२।७५, १०१ इसी प्रकार अन्यत्र भी।

इस नियम के अनुसार जहां समास से अन्यत्र ल्यप् होता है, वहां छन्द से अन्यत्र भी समास में **क्त्वा** के स्थान में ल्यप् का अभाव समझना चाहिए। उससे रामायण महाभारत आदि के समास में क्त्वा के सब प्रयोग उपपन्न हो जायेंगे। इसी प्रकार यजुर्वेदभाष्य १।२४ में प्रयुक्त **प्रापयित्वा,** पञ्चमहायज्ञविधि के **शन्नो देवी** मन्त्र के व्याख्यान में प्रयुक्त **प्रार्थयित्वा** आदि प्रयोग साधु होंगें।

हमारी व्याख्या के अनुसार आदेश रूप से विहित ल्यप् स्वतन्त्र प्रत्यय है। उसका समास के विना अति स्वल्प प्रयोग उपलब्ध होने से आचार्य ने उसे आदेशरूप दिया है। प्रत्ययान्तर कल्पना में समास असमास उभयत्र उभय प्रत्ययों का प्रयोग हो सकता है। प्राचीन शिष्ट प्रयोग इसी के बोधक हैं।

नया विचार—उभयविध प्रयोगों पर विचार करने से हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि मूलतः धातुएं दो ही प्रकार की हैं। एक वे है जिनमें सम्प्रति समझा जाने वाला उपसर्गांश धातु का अपना अवयव है और दूसरी वे हैं जिनमें उपसर्गांश नहीं है। इसी अभिप्राय को प्रकट करनेवाले दो प्राचीन नियम वैयाकरणों द्वारा अभी तक सुरक्षित हैं। वे है—

पूर्वं हि धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेन। परिभाषावृत्ति सीरदेव १३२।

पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण। परि० सीर० १३१॥

अर्थात्—पहले धातु उपसर्ग से युक्त होती है, तत्पश्चात् कारक बोधक प्रत्ययों से। पहले धातु कारक बोधक प्रत्यय से युक्त होती है, पश्चात् उपसर्ग से।

साम्प्रतिक वैयाकरण इन परिभाषाओं की प्रयोगानुसार व्यवस्था मानते हैं। हम समझते हैं कि इन नियमों में अतिपूर्व काल की धातु की द्विविधता का संकेत है। पाणिनीय धातुपाठ में भी कतिपय सोपसर्ग धातु अद्ययावत् सुरक्षित हैं। यथा—

संग्राम युद्धे (१०।३०८) (सम्+ग्राम)। **निवास आच्छादने** (१०। २७१) (नि+वास)। **वीर विक्रान्तौ** (१०।२८५) (वि+ईर)। **व्यय गतौ** (१।६२०॥ १०।३१७) (वि+अय)। आदि-आदि।

इन सभी को मूल धातु मानकर आज भी वैयाकरण लङ् आदि में अट् आगम उपसर्गांश से पूर्व करते हैं और क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश नहीं करते। यथा—

अट्— असंग्रामयत्, अनिवासयत्, अवीरयत्, अव्ययत्, अव्यययत्।

क्त्वा—संग्रामयित्वा, निवासयित्वा, वीरयित्वा, व्ययित्वा, व्यययित्वा।

इस प्रकार की दो धातुएं और दो स्वतन्त्र प्रत्यय होने पर उभयविध सहस्रों प्रयोग अनायास साधु हो जाते हैं।

६—धातुस्थ अनुनासिक के लोप का अभाव

संतन्य—यजुर्वेदभाष्य २।१३ के अन्वय में पाठ है—**एतमरिष्टं यज्ञद्वयं संतन्य**······। यहां अष्टाध्यायी ६।४।३८ के **वा ल्यपि** नियम में वा पद व्यवस्थित विभाषा का बोधक होने से मकारान्त से अन्यत्र नित्य ही अनुनासिक का लोप होता है।[1] अतः यहां संतत्य प्रयोग होना चाहिए।

समाधान— हमारी वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार जहां विकल्प नहीं है, वहां भी अन्यत्र दृष्ट कार्य का अन्यत्र अतिदेश करने से सर्वत्र प्रायिक विकल्प सिद्ध होता है।[2] उस अवस्था में साक्षात् पठित वा शब्द के विस्तृत क्षेत्र को व्यवस्थित विभाषा द्वारा संकुचित करना नितान्त अन्याय्य है। इसलिए सूत्र की यथास्थित व्याख्यानुसार नान्त धातुओं के अनुनासिक का लोप भी ल्यप् में विकल्प से ही होना चाहिए।

अपि च, लोप आगम आदेश द्वारा प्रकृत्यन्तर कल्पना के सिद्धान्तानुसार वस्तुतः धातुएं ही दो प्रकार की हैं, एक नान्त, दूसरी तान्त। दोनों से ल्यप् में दो-दो स्वतन्त्र प्रयोग होंगे। अग्निचित् सोमसुत् आदि में तुगागम से द्योतित चित् सुत्[3] स्वतन्त्र धातुएं हैं। उन्हीं के ल्यप् में संचित्य प्रसुत्य रूप

---

१. व्यवस्थितविभाषा चेयम्, तेन मकारान्तानां विकल्पो भवति, अन्यत्र नित्यमेव लोपः। काशिका ६।४।३८॥

२. अत एव 'अनुदात्तोपदेशवनोति०' (६।४।३५) के नियमानुसार रम+क्तिन् (=रति) में प्राप्त अनुनासिक लोप का 'इह रन्तिः स्वाहा' (सं० वि० पृष्ठ १५२ द० ग्र०) गृह्यमन्त्र (छा० मं० ब्रा० १३।१४) में अभाव देखा जाता है।

३. तुलना करो वृत् (वृतु) वर्तने (१।५०४) 'वृ' से क्विप् में तुक् होने पर 'वृत्' रूप ही होता है।

निष्पन्न होते हैं। इसी दृष्टि से वैयाकरणों के यहां एक नियम है—

क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति।[1]

इसी नियम के अनुसार ६।४।७७ से धातु से विहित इयङ् उवङ् नियौ नियः लुवौ लुवः में भी होते हैं।

शिशुपालवध १।६८ की वल्लभदेव की टीका में एक प्राचीन वचन उद्धृत है—

शत्रदन्त-क्विबन्तानां क्वसन्तानां तथैव च।
तृजन्तानां तु लिङ्गानां धातुत्वं नोपहन्यते॥

अर्थात्—शतृ-अद्(अच्), क्विप्, क्वसु और तृच् प्रत्ययान्त लिङ्गों[2]=प्रातिपदिकों में धातुत्व का नाश नहीं होता। उनमें धातु-विहित कार्य क्वचित् हो जाते हैं।

यह मत बड़े काम का है। इसमें अति प्राचीनकाल की व्याकरण-प्रक्रिया का स्वरूप छिपा हुआ है। इस श्लोक की यदि वैज्ञानिक व्याख्या की जावे तो प्रतीत होगा कि मूल शब्द ही ऐसे थे जिनके एक ओर आख्यात प्रत्ययों में रूप चलते थे, दूसरी ओर नामिक प्रत्ययों में। उन्हीं का एक संकुचित रूप आज भी कण्ड्वादि के रूप में सुरक्षित है। कण्डू आदि से तिङन्त और सुवन्त दोनों प्रत्यय होते हैं। पाणिनीय धातुपाठ में भी ऐसी पचास धातुएं सुरक्षित हैं, जो मूलतः धातु और नाम उभयरूप हैं। यथा—

पुष्प विकसने(४।१४) **वृक्ष आवरणे**(१।३९७), **भू सत्तायाम्** (१।१), **घट चेष्टायाम्** (१।५१०), **कुमार क्रीडायाम्** (१०।२६३), **शूर वीर विक्रान्तौ** (१०।२८५), **व्यय गतौ** (१।६२०) आदि-आदि।

काशकृत्स्न के धातुपाठ में तो इस प्रकार की लगभग ३०० धातुएं पाणिनि धातुपाठ से अधिक पठित हैं।

वार्तिककार का **'सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वक्तव्यः'** नियम भी उक्त तथ्य का ही संकेत करता है।

इतना ही नहीं, पाणिनि द्वारा सुरक्षित प्रातिपदिक संज्ञा अपनी अन्वर्थता[3] के द्वारा इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति की सूचना देती है। तद-

---

१. इसी नियम के अनुसार 'वाच्यति' 'स्रुच्यति' में, क्यच् परे रहते ६।१।१५ से संप्रसारण की प्राप्ति होती है। उसे रोकने के लिए वैयाकरणों ने दूसरा नियम बनाया है—'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यं विज्ञास्यते'। द्र० काशिका ६।१।१५।

२. काशकृत्स्न और कातन्त्र व्याकरण में लिङ्ग-शब्द से पाणिनीय प्रातिपदिकों का ग्रहण होता है।

३. पदं पदं प्रति इति प्रतिपदम्। प्रतिपदे भवं प्रातिपदिकम्, अर्थात् चारों प्रकार के प्रत्येक पद में वर्तमान।

नुसार मूलत: एक ही शब्द आख्यात, नाम, उपसर्ग और निपात रूप में परिणत हो जाता है। विस्तरभिया हम इस का संकेत मात्र ही करते हैं।

७—अस्थान में णिलोप

यजुर्वेद भाष्य में अनेक ऐसे पद प्रयुक्त हैं, जिनमें णेरनिटि (६।४।५१) के नियमानुसार णिच् प्रत्यय का लोप नहीं होना चाहिए, परन्तु णिच् का लोप किया गया है। यथा—

शिक्षित्वा—यजुर्वेदभाष्य १।१७ के अन्वय में। **शिक्षयित्वा** चाहिए।
शोधित्वा—यजुर्वेदभाष्य २।१ के भावार्थ में। **शोधयित्वा** चाहिए।

साधित्वा—यजुर्वेदभाष्य २।१६ के भावार्थ में। **साधयित्वा** चाहिए।

विभाजितारः—यजुर्वेदभाष्य १।१८ के पदार्थ में **विभाजयितारः** चाहिए।

समाधान—पाणिनि का णिलोप का विधान और निषेध प्रायिक है। प्रायिक होने से जहां णिलोप विहित है, वहां क्वचित् णिलोप का अभाव देखा जाता है और जहां प्रतिषेध है वहां णिलोप देखा जाता है। महाभाष्यकार ने ७।४।६५ में लिखा है—

दर्धर्ति ·····**अनिपात्यम्, देवा अदुह्लवद् रुक् पर्णशुषिवत् णिलुक् च भविष्यति।**

अर्थात्—**दर्धर्ति** में **'पर्णशुष्'**[1] के समान णि का लुक् हो जाएगा (पर्णों को जो सुखाने वाला वायु वह 'पर्णशुष्' कहाता है)।

यहां णिलुक् एक दिशा (=मार्ग) का निदर्शक है। ऐसे ही णि का लोप भी समझना चाहिये।

अन्य समाधान—**शिक्षित्वा**[2] और **शोधित्वा** में अन्तर्भावित ण्यर्थ का कल्पना से णिच् के विना भी यथार्थ प्रयोग उपपन्न हो सकता है। **साधित्वा** में आगे विव्रियमाण इट् अनिट् व्यवस्था के अनुसार अन्तर्भावित ण्यर्थक साध धातु से इडागम जानना चाहिए। **विभाजितारः** में चौरादिक भाज **पृथक्कर्मणि**(१०।२७२)से पूर्व प्रपञ्चित नियमानुसार स्वार्थ णिच् के अभाव में अन्तर्भावित हेत्वर्थ से तृच् में प्रयोग अनायास उपपन्न होता है।

---

१. पूर्ण श्लोक इस प्रकार है —वान्ति पर्णशुषो वातास्ततः पर्णमुचोऽपरे। ततः पर्णरुहो वान्ति ततो देवः प्रवर्षति॥ द० उ० वृत्ति पृष्ठ ३१२ पर उद्धृत। इसमें कुछ पाठ भेद भी है।

२. हस्तलेखों में 'शिक्षयित्वा' पाठ है।

८—अस्थान में इट् का आगम और अभाव

यजुर्वेदभाष्य में अनेक ऐसे प्रयोग हैं, जिनमें अनिट् धातुओं के प्रयोगों में इट् का आगम किया है, और सेट् धातुओं में इट् का आगम नहीं किया यथा—

अनिट् धातुप्रयोगों में इडागम—आकर्षितः, प्रक्षेपितुम्, भजितुम्।

आकर्षितः—यजुर्वेदभाष्य १।२५ के भावार्थ में **आकर्षितस्य**, २।१ के पदार्थ में **आकर्षितः**, २।१६ के भावार्थ में **सूर्याकर्षितं जलम्**, तथा २।२० के भावार्थ के अन्त में **आकर्षितम्** का प्रयोग मिलता है। **कृष विलेखने** भ्वादि (७१७) और तुदादि (६) दोनों गणों में अनुदात्त पढ़ा है। अतः इस से इट् नहीं हो सकता।

प्रक्षेपितुम्—यजुर्वेदभाष्य २।२६ के पदार्थ में **यज्ञेऽग्नौ च प्रक्षेपितुं योग्येन घृतादिना** पाठ है। **क्षिप प्रेरणे** दिवादि (१३) और तुदादि (५) दोनों में अनुदात्त पढ़ा है। अतः **प्रक्षेप्तुम्** प्रयोग होना चाहिए।

भजितुम्—यजुर्वेदभाष्य २।२० के पदार्थ में(**यशोभगिन्यै**)······**भजितु शीलं यस्याः**'पाठ है। भज धातु अनिट् है। अतः '**भक्तु**''प्रयोग होना चाहिए।

सेट् धातुओं से इट् का अभाव—वेत्ता, सर्ववेत्रा।

यजुर्वेदभाष्य १।१६ के अन्वय में '**गुणानां च वेत्ताऽसि**' तथा २।२१ के भावार्थ में **सर्ववेत्रा** प्रयोग है। इसी प्रकार ४०।८ में भी। **विद ज्ञाने** (२। ५६)सेट् धातु है, इसका तृच् में **वेदिता, सर्ववेदित्रा** प्रयोग होना चाहिए।

समाधान—ऊपर अनिट् धातुओं से इट् आगम के और सेट् धातु से अनिट् रूप उदाहृत किये हैं। उनके विषय में यह जानना चाहिए कि सारा इट् अनिट् प्रकरण प्रायिक है। उसके अपवादभूत शतशः शिष्ट प्रयोग उपलब्ध होते हैं। अत एव वैयाकरणों ने भी एक नियम स्वीकार किया है—

आगमशास्त्रमनित्यम्। परिभाषेन्दुशेखर ९४।

अनित्यमागमशासनम्। परि० सीर० १०१।

इस नियम के अनुसार आगम शास्त्र के अनित्य होने से अनिट् से इट् का आगम और सेट् से इट् का अभाव, दोनों कार्य भले प्रकार उपपन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं, लक्षणभेद से भी अनिट् को इडागम क्वचित् देखा जाता है।

अनिट् को इडागम—पाणिनि ने **स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते** (७।२। ३६) के नियमानुसार क्रम को आत्मनेपद में इट् नहीं होना चाहिए, परन्तु महाभारत शल्यपर्व ४।४९ का वचन है—

नातिक्रमिष्यते कृष्णो वचनं कौरवस्य तु।

यहां इट् के प्रतिषेध विषय में इडागम देखा जाता है।

पाणिनीय धातुपाठ में **शक्लृ शक्तौ** (५।१८) अनुदात्त पढ़ी है। इससे निष्ठा में इट् नहीं होना चाहिए, परन्तु पाणिनि से परवर्ती सौनाग आचार्य के मत में कर्म में इट् का आगम विकल्प से होता है—[1]**शकितो घटः कर्तुम्, शक्तो वा।**

इसी प्रकार **असु क्षेपणे** (४।१०३) उदित् होने से **यस्य विभाषा** (७।२।१५) नियम से निष्ठा में इट् का नित्य निषेध प्राप्त है, परन्तु सौनाग आचार्यों के मत में भाव में विकल्प से इट् का आगम होता है—**असितमनेन, अस्तं वा।**[2]

पत्लृ गतौ (१।५८०) धातु से **तनिपतिदरिद्राणामुपसंख्यानम्** (७।२।४९) वार्त्तिक से सन् में इट् का विकल्प विधान होने से **यस्य विभाषा** (७।२।१५) नियम से निष्ठा में इट् का आगम नहीं होना चाहिए, परन्तु स्वयं आचार्य पाणिनि ने **द्वितीयाश्रितातीतपतित**(२।१।२४)इत्यादि सूत्र में **पतित** में इडागम का प्रयोग किया है।

उपर्युक्त प्रयोगों में जिस प्रकार इट् का निषेध होने पर भी इट् का आगम निषेध के प्रायिक होने से हो जाता है, उसी प्रकार **आर्कषितः प्रक्षेपितुम् भजितुम्** में भी इट् का आगम जानना चाहिए।

सेट् से इट् का अभाव—जिस प्रकार इट् निषेध में इडागम शिष्टप्रयोगों में उपलब्ध होता है, उसी प्रकार सेट् धातुओं से इट् का अभाव भी देखा जाता है। तथा कई प्रयोगों में लक्षणान्तर से इट् का अभाव स्वीकार किया जाता है। यथा—

श्वस प्राणने (२।६६) उदात्त पठित होने से सेट् है। परन्तु महाभारत वनपर्व २९९।८ में पाठ है—

ततस्तौ पुनराश्वस्तौ वृद्धौ पुत्रदिदृक्षया।

यहां इट् का अभाव प्रयुक्त है। काशिकाकार ने ७।२।१६ में चकार से **आश्वस्त** और **वान्त** पदों का संग्रह किया है[3]। **टुवम उद्गिरणे** (१।५८५) धातु भी सेट् है, परन्तु **वान्त** में इट् का आगम नहीं होता। क्षीरस्वामी ने **अघृणः खलु वान्ताशी** (क्षीरत० पृ० ११९)प्राचीन प्रयोग उद्धृत किया है।

---

१. सौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन, अस्यतेर्भावे। काशिका ७।२।१७ में, तथा धातुवृत्ति, पृष्ठ ३०७ चौखम्भा संस्क०।

२. इसी पृष्ठ पर टिप्पणी १ देखिये।

३. चकारोऽनुक्त समुच्चयार्थः—आश्वस्तः, वान्तः।

क्षीरस्वामी और सायण ने अपनी धातुवृत्तियों में काशकृत्स्न के मत में श्वस धातु से निष्ठा परे इट् का अभाव माना है।[1] काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड टीका में तकारादि प्रत्यय मात्र में इट् का अभाव उदाहृत है। यथा– **श्वस्तिः श्वस्तम् श्वस्तव्यम्** (पृष्ठ १६५)।

विशेष—पाणिनि द्वारा इडागम का प्रतिषेध न होने से और काशकृत्स्न के मत में इट् का निषेध होने से वास्तविक वैज्ञानिक तत्त्व यह प्रकट होता है कि श्वस धातु के तकारादि प्रत्ययों में इट् का विकल्प जानना चाहिए। इसीलिए भगवान् कृष्णद्वैपायन ने वनपर्व २९८।८ में इट् रहित आश्वस्त का प्रयोग करके अगले २०वें श्लोक में—**एवमाश्वसितैस्तु** सेट् आश्वसित शब्द का निर्देश किया है।

इस मीमांसा से स्पष्ट है कि पाणिनि-प्रोक्त इट् का विधान और निषेध प्रायिक है। जिन धातुओं के प्रायः करके अनिट् प्रयोग व्यवहृत थे, उनको अनिट् पढ़ दिया और जिनके सेट् प्रयोग अधिक व्यवहृत थे, उनको सेट्। इसी प्रकार जिनके इट् अनिट् दोनों के सामान्य रूप से प्रयोग मिलते थे, उन्हें वा इट् स्वीकार किया।

सेट् विद धातु के तृच् प्रत्यय में इट् का वहुधा अभाव देखा जाता है। गीता ११।३८ के **वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम** वचन तथा '**यथा खरश्चन्दन-भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य**' सुभाषित में इडागम विहीन **वेत्ता** पद प्रयुक्त है।

९—अप्रयोगार्ह क्रिया पद का प्रयोग

संस्कृत भाषा में अनेक ऐसे पद हैं जिनका प्रयोग वैयाकरणों में वर्जित माना गया है। उन्हीं में एक **वचन्ति** प्रयोग भी है। सभी धातुवृत्तिकार **वच परिभाषणे** (२।५७) धातु पर लिखते हैं—

वचन्तीति नेष्यतेऽनभिधानात्। क्षीरत० पृष्ठ १८१।

सायण ने धातुवृत्ति में क्षीर के पूर्वोक्त मत को उद्धृत करके सम्मत-कार और भोज का साक्ष्य भी उपस्थित किया है (द्र० पृष्ठ २५९) तत्पश्चात् आत्रेय के मत में एकवचन से अन्यत्र सर्वत्र (द्विवचनों और बहुवचनों में) प्रयोग का अभाव दर्शाया है।[2]

---

१. काशकृत्स्ना श्वस्य निष्ठायामनिट्त्वमाहुः। क्षीरत० पृष्ठ १८५, धातुवृत्ति पृष्ठ २६४।

२ आत्रेयस्तु एकवचनान्तान्युदाहृत्य अन्यत्रानभिधानमित्येके, झिमात्र एवान-भिधानमिति केचित्। धातुवृत्ति पृष्ठ २५८।

यजुर्वेदभाष्य २।१८ के पदार्थ के (वाचम्) वचन्ति वाचयन्ति वा सर्वा विद्या यया पाठ में अप्रयोगार्ह **वचन्ति** पद का प्रयोग किया है।

समाधान—जब शास्त्रकारों द्वारा साक्षात् शिष्ट प्रयोगों में भी व्यत्यास देखा जाता है, तब शास्त्रकारों द्वारा साक्षात् अनिर्दिष्ट विषय में प्रसिद्धि मात्र से उन-उन प्रयोगों का अप्रयोगार्हत्व मानना दुःसाहसमात्र है। **वचन्ति** का प्रयोग नहीं होता, ऐसा किसी प्राचीन शास्त्रकार का मत नहीं है। इसके विपरीत वचन्ति के प्रयोग देखे जाते हैं। ऋग्वेद का भाष्यकार स्कन्दस्वामी ऋ० १।५४।८ के भाष्य में **प्रवचन्ति=प्रकरोति** का प्रयोग करता है।

लेट् प्रयोग—यजुर्वेदभाष्य १।१३ के भावार्थ में **जलौषधिरसान् छिन्तः** वाक्य में **छिन्तः** पद **छिन्द्यातास्** के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा वाक्य से प्रतीत होता है। उक्त अर्थ में **छिन्तः** प्रयोग लेट् में ही उपपन्न हो सकता है। ऐसा ही एक प्रयोग १।२२ के अन्वय में **मा हिंसीव् नैव हिनस्ति** है। पूर्वापर के पाठ से तथा पदार्थ से 'हिनस्तु' अर्थ स्पष्ट है। यह प्रयोग भी इस अर्थ में लेट् में अट् आट् आगम के अभाव में उपपन्न हो सकता है, अन्यथा अर्थ सम्बद्ध नहीं होता। परन्तु लेट् छान्दस है। अतः उक्त प्रयोग चिन्त्य हैं यजुर्वेदभाष्य ७।८ के भावार्थ के अन्त में **वश्मि** प्रयोग उपलब्ध होता है। महाभाष्यकार ने ६।१।६ के भाष्य में वश धातु को छान्दस माना है।

समाधान—हम पूर्व सप्रमाण लिख चुके हैं कि कोई भी प्रयोग इसलिये भाषा में अप्रयोगार्ह नहीं हो सकता कि वह वैदिक है अर्थात् वैदिक ग्रन्थों में ही उसका प्रयोग मिलता है, लोक में प्रयोग नहीं मिलता। वश धातु को छान्दस मानने पर भी लोकभाषा में इसके प्रचुर प्रयोग देखे जाते हैं। **वष्टि भागुरिरल्लोपम्** वचन वैयाकरणों में प्रसिद्ध है। अब रहता है केवल लेट् लकार का प्रश्न महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों का इस दृष्टि से अनुशीलन किया जाए तो उनमें लेट् के प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होंगे।

इस प्रकार यजुर्वेदभाष्य में धातुसम्बन्धी अपशब्द समझे जाने वाले पदों की मीमांसा करके नाम सम्बन्धी पदों के साधुत्व की मीमांसा करते हैं।

१०—असिद्ध प्रातिपदिक का प्रयोग

यजुर्वेदभाष्य में यत्र तत्र ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से असिद्ध हैं। यथा—

आशी (ईकारान्त) **मान्य** (मान अर्थ में) **एष्टितव्यम्**—यजुर्वेदभाष्य १।२३ के भावार्थ में **'आशीश्च वदति'** प्रयोग किया है। यहां **अशिषो वदति** प्रयोग होना चाहिए। यजुर्वेदभाष्य २।१० के भावार्थ में मान अर्थ में मान्य

शब्द का प्रयोग है—**सर्वस्य मान्यप्राप्तिहेतुत्वात्**। २।११ के भावार्थ में **मान्यकारिणः**,तथा संवत् १६३५ श्रावण वदी ११ को अल्काट के नाम लिखे संस्कृत पत्र में **मातरं मान्यकर्त्रीं**[1] और संवत् १६४० भाद्रवदी १० के पत्र में **मानपत्र** के लिए **मान्यपत्र** शब्द प्रयुक्त हैं[2]। **मान** अर्थ में **मान्य** शब्द का प्रयोग असाधु है। यजुर्वेदभाष्य १।५ के भावार्थ में **एष्टितव्यम्** शब्द का प्रयोग मिलता है। यहां **एषितव्यम्** प्रयोग होना चाहिए।

समाधान—हम आरम्भ में दर्शा चुके हैं कि व्याकरणशास्त्र की वैज्ञानिक व्याख्यानुसार लोप आगम आदेश द्वारा जैसे लोकभाषा से उत्सन्न धातुओं का परिज्ञापन होता है, उसी प्रकार लोकभाषा से उत्सन्न शतशः प्रातिपदिकों का भी ज्ञापन होता है। उदाहरण के लिये **मनुष्** कनीना राज (अकारान्त) **अह** (अकारान्त) शब्दों का ज्ञापन दर्शा चुके। उस प्रकरण को ध्यान में रखकर अगला समस्त प्रकरण पढ़ना चाहिये।

आशी—दीर्घ इकारान्त स्वतन्त्र शब्द है। इसका अर्थ भी **'आशिष्'** ही है। अमरकोश (३।३।२२८) की टीका में भानुजी दीक्षित ने लिखा है—

केचित्तु ईकारान्तम् आशीशब्दमाहुः। उदाहरन्ति च—'आशीरिव कलामिन्दोः' इति।

इस उल्लेख तथा उदाहरण से स्पष्ट है कि यजुर्वेदभाष्य में प्रयुक्त दीर्घ इकारान्त **आशी** शब्द साधु है। उसको असाधु मानना अथवा कहना अपना अज्ञान प्रकट करना है।

हमारी वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार **'आशिष्'** शब्द के प्रथमा के एकवचन में जो दीर्घत्व(आशीः)होता है, वह लक्ष्मीः के समान दीर्घ इकारान्त **'आशीः'** पद का ज्ञापक है।

मान्य— मानार्ह के अर्थ में मान शब्द से यत् प्रत्यय होकर मान्य शब्द सिद्ध होता है, यह ठीक है। परन्तु **मन ज्ञाने** से जैसे भाव में 'घञ्' होकर **मननं मानः** प्रयोग बनता है, उसी प्रकार **ऋहलोर्ण्यत्** (३।१।१२४)से भाव अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होकर **मननं मान्यम्** प्रयोग भी अञ्जसा उपपन्न होता है। इसी मानार्थक संस्कृत मान्य शब्द का मान अर्थ में प्रयोग राजस्थान गुजरात और सौराष्ट्र की भाषाओं में अद्ययावत् होता है। अतः मानार्थक मान्य शब्द को असाधु समझना भूल है।

---

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ६७, पं० २२ (द्वि० संस्क०)।
२. वही, पृष्ठ ४५५, पं० १०।

एष्टितव्यम्—यह पद इष्ट प्रातिपदिक से **सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वक्तव्यः** (३।१।११) वार्तिक से क्विप्, तत्पश्चात् धातु संज्ञा होकर तव्य प्रत्यय में उपपन्न होगा। इसका अर्थ होगा—

आ समन्तात् इष्ट इवाचरितव्यम्=एष्टितव्यम्।

व्याकरण की इस प्रक्रिया के अनुसार **एष्टितव्यम्** प्रयोग सर्वथा साधु है। अर्थ भी प्रकरण में सङ्गत हो जाता है।[1]

११—असिद्ध विभक्तिरूप

यजुर्वेदभाष्य मे अनेक प्रातिपदिकों से ऐसी विभक्तियों का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो व्याकरण द्वारा उपपन्न नहीं होतीं। यथा—

अध्यात्मनि, यथायोग्यान, प्रतिवस्तुषु, प्रतिजनः—

यजुर्वेदभाष्य १।२० के भावार्थ में **अध्यात्मनि** प्रयोग है। अव्ययीभाव समास होने से **नाव्ययीभावादतोम् त्वपञ्चम्याः** (२।४।८३) के नियम से **यथायोग्यम्** प्रयोग साधु होता है। यजु० भाष्य १।३०। तथा २।१७। के भावार्थ में **प्रतिवस्तुषु** पाठ उपलब्ध होता है। यहां भी अव्ययीभाव की अव्यय संज्ञा होने से **अव्ययादाप्सुपः** (२।४।८२) से सुप् का लोप होकर **प्रतिवस्तु** प्रयोग साधु होता है। यजुर्वेदभाष्य १।२२ के प्रथम अन्वय में **प्रतिजनस्त्वम्** प्रयोग मिलता है। यहां भी **नाव्ययीभावात्** (२।४।८३) के नियम से **प्रतिजनम्** प्रयोग साधु है।

समाधान—अब हम उपर्युक्त असाधु दर्शाए गये शब्दों पर विचार करते हैं—

अध्यात्मनि—हम पूर्व पृष्ठ ११-१३ पर **राजाहस्सखिभ्यष्टच्** (५।४।९१) सूत्र के विचार प्रसङ्ग में सोपपत्तिक वर्णन कर चुके हैं कि **विभाषा समासान्तो भवति** (महा० ६।२।१९७) नियम से समासान्त कार्य विकल्प से होते हैं। तदनुसार यहां भी **अनश्च**(५।४।१०८)से प्राप्त टच् का अभाव जानना चाहिये। टच् का अभाव होने पर सप्तम्येकवचन को जो लुक् प्राप्त होता है, उसका प्रतिविधान **क्वचित् प्रवृत्ति, क्वचित् अप्रवृत्ति, क्वचित् विभाषा, क्वचित् अन्यत्** (प्रकरण वहिर्भूत कार्य)कार्यों के करने में समर्थ **बहुल** पद के[2] ग्रहण (२।४।८४) से करना चाहिए।

---

१. श्री आचार्यवर पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने अपने विवरण में इसे क्लिष्ट कल्पना मानकर सीधा 'एषितव्यम्' संशोधन दर्शाया है।

२. क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति। व्याकरण ग्रन्थों में प्रायः स्मृत वचन।

हमारे विचार में **तृतीया सप्तम्योर्बहुलम्** (२।४।८४) में **अतः अम्** पदों की अनुवृत्ति नहीं लानी चाहिये। अथ करना चाहिए—

अव्ययीभावाद् यदुक्तं तत् तृतीयासप्तम्योर्बहुलं भवति। बहुलग्रहणात् तृतीयासप्तमीभ्यामन्यत्रापि।

अर्थात्—अव्ययीभाव से तृतीया और सप्तमी विभक्ति को जो कुछ कार्य (अम्भाव-विभक्ति का लुक्) कहा है वह बहुल करके होता है, कहीं होता है, कहीं नहीं होता तथा बहुलग्रहणसामर्थ्यात् तृतीया और सप्तमी से भिन्न विभक्तियों को भी।

इस व्यापक अर्थ से जहां अनेक असाधु समझे जाने वाले आर्ष प्रयोगों का साधुत्व व्यवस्थापित होगा, वहां महाभाष्यकार के **यथाप्राप्तश्चेक् श्रूयेत**[१](१।१।२७)में **'यथाप्राप्तः'** प्रयोग का साधुत्व भी व्यवस्थापित होगा। इसी प्रकार **'अध्यात्मनि'** प्रयोग का साधुत्व भी जानना चाहिए।

यथायोग्यान्—इसका साधुत्व भी पूर्व **'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्'** की उपरि निर्दिष्ट व्याख्या तथा **'यथाप्राप्तश्चेक् श्रूयेत'** महाभाष्यकार के प्रयोग के अनुसार जानना चाहिए। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य सम्बन्धी विज्ञापन में प्रयुक्त **यथाशक्त्या सहायः**[२] **कार्यः** (द्र० ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३४ पं० २३ द्वि० सं०) प्रयोग को भी साधु समझना चाहिए।

प्रतिवस्तुषु—इसका साधुत्व भी **यथायोग्यान्, यथाप्राप्तः** प्रयोगों के समान असन्दिग्ध है।

प्रतिजनः—इसका साधुत्व भी **यथायोग्यान्**, और महाभाष्यकार के **यथाप्राप्तः** प्रयोगों के अनुसार जानना चाहिये।

विशेष—**'अव्ययीभाव'** अन्वर्थ संज्ञा है। तदनुसार इसका अर्थ है—**अनव्ययमव्ययं भवतीत्यव्ययीभावः**। अर्थात्—जो अव्यय न हो, वह अव्यय होता है। अभूततद्भाव में विहित च्विप्रत्यय उत्तर अवस्था के बाहुल्य मात्र का प्रतिपादन करता है, पूर्व अवस्था का निषेध नहीं करता। **शुक्ली भवति वस्त्रम्** का अर्थ इतना ही है कि जो वस्त्र पहले श्वेत नहीं था, किसी अन्य

---

१. तुलना करो—काशिका ३।३।१३५ में प्रयुक्त **'यथाप्राप्तस्य'** प्रयोग। काशिका के व्याख्यान में हरदत्त ने लिखा है—'यथा येन प्रकारेण प्राप्तं प्राप्तिर्यस्येति बहुव्रीहिः, अव्ययीभावे त्वम्भावः स्यात्'। यह सब लक्षणैकचक्षु वैयाकरणों की क्लिष्ट कल्पना मात्र है।

२. **'सहायः'** का साधुत्व प्रतिपादन आगे किया जायेगा।

रंग का था, वह शुक्ल (प्राय) हो गया। पूर्व रंग का कुछ भी अंश विद्यमान नहीं रहा, इस बात को 'च्वि' प्रत्यय नहीं कहता। अतः अव्ययीभाव समास के अव्यय हो जाने पर भी उस में अनव्ययांश अवशिष्ट रहता है और उसी को मानकर दूसरे कार्य भी हो जाते हैं (जैसे स्थानिवत् भाव होने पर स्वाश्रय कार्य भी होते हैं)। इसलिए अव्ययों से प्रतिषिद्ध पराङ्गवद्भाव अकच् मुम् और च्वि परे ईत्व कार्य अव्ययीभाव से देखे जाते हैं (द्र० महाभाष्य १।१।४)।

१२—अन्य विभक्ति के स्थान में अन्य विभक्ति का प्रयोग

यजुर्वेदभाष्य में क्वचित् विभक्ति व्यत्यास भी देखा जाता है। यथा—

ओषधिं सेविकाः—यह प्रयोग यजुर्वेदभाष्य १।१२ के पदार्थ में उपलब्ध होता है। यहां **कर्तृकर्मणोः कृति** (२।३।६५) नियम से 'ओषधेः सेविकाः' प्रयोग होना चाहिये।

मनुष्येभ्यः इदमुपदिशति—यह प्रयोग —यजुर्वेदभाष्य २।२ के भावार्थ में उपलब्ध होता है। **अकथितं च** (१।४।५१) सूत्र के भाष्य में पठित दुहि याचि धातुएं परिगणित नहीं हैं, अपितु उनके द्वारा उन-उन अर्थों का निर्देश किया है, ऐसा वैयाकरणों का सिद्धान्त है।[1] इसलिए **ब्रूञ्** के अर्थ में उपदिश का अन्तर्भाव होने से **पुत्रं धर्मं ब्रूते** के समान **मनुष्यान् इदमुपदिशति** प्रयोग होना चाहिए।

समाधान— कारक के लिए प्रामाणिक आचार्यों का कथन है कि कारकत्व वक्ता की विवक्षा के आधीन होता है। इसलिए वक्ता जिस कारक की विवक्षा से प्रयोग करना चाहता है, वही-वही विभक्ति होती है। **अकथितं च** (१।४।५१) सूत्र पर ही महाभाष्यकार ने लिखा है—

कारकं चेद् विजानीयाद् यां यां मन्येत सा भवेत्। कारकं चेद् विजानीयाद् या या प्राप्नोति सा सा कर्त्तव्या। दुह्यते गोः पयः, याच्यते पौरवात् कम्बलः।

अर्थात्— [कारकत्व के वक्ता के अधीन होने से] यदि वक्ता कारक की विवक्षा करता है, तो जो जो विभक्ति प्राप्त होती है, वह करनी चाहिए। यथा— **दुह्यते गोः पयः, याच्यते पौरवात् कम्बलः** में गौ और पौरव से द्वितीया न होकर अपादान विवक्षा में पञ्चमी विभक्ति होती है।

---

१. इसलिए वैयाकरण आपाततः समानार्थक याच और भिक्ष के अर्थों में भी सूक्ष्म भेद दर्शाते हैं। द्रष्ट० १।४।५१ का न्यास तथा पदमञ्जरी ग्रन्थ।

इस नियम के अनुसार **मनुष्येभ्यः** को श्रूञ् धातु के अर्थ के अन्तर्गत मान लेने पर भी सम्प्रदान की विवक्षा में चतुर्थी हो जाएगी। अतः **मनुष्येभ्यः** प्रयोग में कोई अशुद्धि नहीं है।

ओषधि सेविका में भी यही स्थिति है। वर्तमान वैयाकरणों के मतानुसार **कर्तृकर्मणोः कृति** में शेष की अनुवृत्ति नहीं आती। परन्तु हमारा मत है कि शेष की अनुवृत्ति आती है[1]। अतः कर्त्ता और कर्म के शेषत्व की विवक्षा होने पर षष्ठी होगी, अविवक्षा में द्वितीयादि हो जाएंगी। अत एव **ग्रामं गन्ता ग्रामाय गन्ता ग्रामस्य गन्ता** तीनों प्रयोग उपपन्न होते हैं।[2] अपि च, यदि हमारी व्याख्या न मानी जाए तो पाणिनि का अपना **तदर्हम्** (५।१।११७) प्रयोग भी चिन्त्य ही होगा, वहां भी २।२।६५ नियम से **तस्य अर्हम्** प्रयोग होना चाहिए। यदि हमारी व्याख्या स्वीकार न की जाए तब भी **तदर्हम्** निर्देश से **कर्तृकर्मणोः कृति** का अनित्यत्व तो मानना ही होगा।[3] उभयथा इष्टसिद्धि हो जाती है।

१३—समान वाक्य में विभक्ति भेद

वैयाकरणों का मत है कि किसी अर्थ में अथवा किसी उपपद को निमित्त मानकर एक से अधिक विभक्तियों का विधान किया गया हो, तो भी समान वाक्य में उन विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग साधु नहीं होता। महाभाष्य-ने कहा है—

एकस्याकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति। तद्यथा गोषु स्वामी अश्वेषु च। ३।१।४०॥

अर्थात् एक आकृति से प्रारब्ध प्रयोग दूसरी और तीसरी आकृति से नहीं होता। यथा—**गवां स्वामी अश्वेषु च।**

स्वामी शब्द के योग में **स्वामीश्वराधिपतिदायाद०** (२।३।३९)से षष्ठी और सप्तमी दोनों का विधान होने पर भी **गवां स्वामी अश्वेषु च** प्रयोग साधु नहीं होता। **गवां स्वामी अश्वानां च** अथवा **गोषु स्वामी अश्वेषु च** ही प्रयोग साधु है।

यजुर्वेदभाष्य में समानवाक्य में विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग मिलता है। यथा—

---

१. काशिकाकार ने 'शेष इति निवृत्तं पुनः कर्मग्रहणात्' हेतु दिया है यह चिन्त्य है। कर्म की अनुवृत्ति २।३।६१ तक ही है। आगे उसका सम्बन्ध ही नहीं होता। आगे चतुर्थ्यर्थं, करण और अधिकरण में षष्ठी का विधान है।

२. द्रष्टव्य हमारे द्वारा प्रकाशित भागवृत्तिसंकलनम् २।३।१२॥

३. द्रष्टव्य २।२।६५ की दुर्घटवृत्ति।

अग्नेरूर्ध्वंगमनशीलेन सर्वपदार्थछेदकत्वाच्च—यह पाठ यजुर्वेदभाष्य २।७ के भावार्थ में प्रयुक्त है। इसी प्रकार अन्यत्र भी—

तस्य सर्वशक्तिमत्त्वेन सर्वत्राभिव्यापकत्वादिति——यजुर्वेद ३।२५ भावार्थ में।

'**सर्वज्ञत्वेन** .... **श्रोतृत्वेन सर्वाधारकत्वेनान्तर्यामितया**............ **शोधकत्वेन सर्वस्य मित्रत्वाच्च**—ऋग्भाष्य १।१०।९ भावार्थ।

स्वस्ति श्रेष्ठोपमायोग्यस्य गङ्गादत्तशर्मणे—ऋषि द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४, पंक्ति ३, द्वि० सं०।

इन चार उदाहरणों में से प्रथम तीन में **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२।३। २५) से हेतु में विहित **तृतीया** और **पञ्चमी** दोनों का समान वाक्य में प्रयोग किया है। चतुर्थ वाक्य में कुशलार्थवाची स्वस्ति के योग में **चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः तथा आयुष्यादीनां पर्यायग्रहणं कर्त्तव्यम्** (२।३।७३ सू० वा०) से विहित षष्ठी और चतुर्थी का एक साथ प्रयोग किया है। वैयाकरणों के उक्त सिद्धान्त के अनुसार ऐसे प्रयोग चिन्त्य हैं।

समाधान— महाभाष्यकार का जो मत ऊपर लिखा गया है, वह एकान्त नहीं है, प्रायिक है। प्राचीन ग्रन्थों में समानवाक्य में उक्त प्रकार के विभिन्न विभक्तियों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—शतपथ ब्राह्मण का पाठ है—**अनस एव यजूंषि सन्ति, न कौष्ठस्य, न कुम्भ्यै**। १ १।२।७॥

२—तैत्तिरीय संहिता का वचन है—**धेन्वै वा एतद् रेतो यदाज्यम्, अनुडुहस्तण्डुलाः**। २।२।६॥

३—तैत्तिरीय संहिता का दूसरा वचन है—**इदमहममुं भ्रातृव्यमाभ्यो दिग्भ्योऽस्यै दिवोऽस्मादन्तरिक्षात्**.....। १।६।६॥

इन उदाहरणों में प्रथम दो में **षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या** (२।३।६२) वार्त्तिक से विहित चतुर्थी और पक्ष में यथाप्राप्त षष्ठी दोनों का समान वाक्य में ठीक उसी प्रकार प्रयोग हुआ है (**कौष्ठस्य-कुम्भ्यै, धेन्वै अनुडुहः**) जैसे प्रयोग का भाष्यकार ने प्रतिषेध किया है। तृतीय वाक्य में और भी अधिक वैशिष्टच है, उसमें **अस्यै दिवः** विशेषण विशेष्य में भी विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो साम्प्रतिक वैयाकरणों को सर्वथा असह्य है।

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में समानवाक्य में विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग दोषावह नहीं माना जाता था। इतना ही नहीं,

पाणिनि ने इसके प्रतिषेध के लिए कोई साक्षात् वचन नहीं पढ़ा है। अतः केवल भाष्यकार के स्वकाल में प्रचलित प्रसिद्धि के अनुसार, अथवा उनके प्रायिक नियम के आधार पर समानवाक्य में विभिन्न विभक्तियों के प्रयोगों को चिन्त्य कहना, स्वयं ही चिन्त्य है। आधुनिक वैयाकरण तो **यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्** जैसे काल्पनिक नियम घड़कर प्राचीन वैयाकरणों द्वारा साक्षात् शिष्ट प्रयोगों को भी असाधु कहने से नहीं चूकते।[1]

१४—लिङ्गभेद

यजुर्वेदभाष्य में कतिपय ऐसे पद प्रयुक्त हैं, जिनका वास्तविक लिङ्ग कुछ और ही है और वेदभाष्य में अन्य लिङ्ग में उनका प्रयोग किया है। यथा—

अहोरात्राणि, आकाशम्, बृहच्चासौ ग्रावा च, एतदर्थौं, प्रतिपादितः (भावे)।

अहोरात्राणि—यजुर्वेदभाष्य २।२७ के पदार्थ में **आसमन्ताद्वर्तन्ते अहोरात्राणि यस्मिन्** पाठ है। अष्टाध्यायी के **रात्राह्नाहाः पुंसि** (२।४।२९) नियम के अनुसार **अहोरात्राः** प्रयोग साधु होता है।

आकाशम्—यह प्रयोग यजुर्वेदभाष्य ३२।५ में प्रयुक्त है। घञ् प्रत्ययान्त पुंल्लिङ्ग होते हैं। अतः **आकाशः** प्रयोग साधु है।

बृहच्चासौ ग्रावा च—यह प्रयोग यजुर्वेदभाष्य १।१५ के **बृहद्ग्रावा** के अर्थ में लिखा है। बृहत् शब्द में उणादि २।८४ के अनुसार शतृवद् अतिदेश से पुंल्लिङ्ग में नुम् होकर **बृहंश्चासौ ग्रावा च** प्रयोग होना चाहिए।

एतदर्थौं—यह प्रयोग यजुर्वेदभाष्य १।१३ के भावार्थ में उपलब्ध होता है। यहां **एतदर्थं** प्रयोग होना चाहिए।

प्रतिपादितः (भावे)—यह प्रयोग यजुर्वेदभाष्य २।११ के भावार्थ में उपलब्ध होता है। यहां **'प्रतिपादितम्'** पाठ होना चाहिए।

समाधान—ऊपर लिङ्ग सम्बन्धी जो दोष बताए गऐ हैं, वे भाषा तथा व्याकरण के रहस्य को यथार्थरूप में न जानने के कारण प्रतीत होते हैं। वैयाकरणों का मत है—

---

१. द्र० भट्टोजिदीक्षित विरचित शब्दकौस्तुभ १।१।२७। यहां पाणिनि ने पूर्ववर्ती चाक्रवर्मण आचार्य के मत से 'द्वय' की सर्वनामसंज्ञता को स्वीकार करके भी 'यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्' के अनुसार असाधु कहा है। धन्य है ऐसे वैयाकरणों को जो स्वय पाणिनि के द्वारा आदृत आचार्य के नियम को भी असाधु कहने में नहीं हिचकिचाते!

लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य ।[1]

अर्थात् —लिङ्ग शासन करने योग्य नहीं है (उसका शासन अशक्य है) लिङ्ग लोकव्यवहार के आश्रित है ।

सम्प्रति लोक में संस्कृतभाषा प्रचलित नहीं, अतः हम लोक से निर्णय करने में असमर्थ हैं, व्याकरणशास्त्र और लिङ्गानुशासन ही प्रधान आश्रय है । हां, संस्कृत भाषा में लिखित जो प्राचीन वाङ्मय है, वह लोक की कमी को पूरा करता है । प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों में जो विभिन्न प्रयोग मिलते हैं, उनकी शास्त्र से तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि लिङ्गानुशासन प्रायिक है ।

हम कतिपय ऐसे प्रयोग उपस्थित करते हैं, जिनसे हमारे कथन की पुष्टि होती है—

अनुमानः—महाभाष्य २।१।१, **अनुमानम्** के स्थान में ।
सम्बन्धम्—महाभाष्य १।१।१, **सम्बन्धः** ,, ,, ।
रज्जुना—अर्थशास्त्र ४।७, **रज्ज्वा** ,, ,, ।
तर्कया– महा० शान्ति० ३३४।५, **तर्केण** ,, ,, ।
चर्चः—योगभाष्य ४।८, **चर्चा** ,, ,, ।

इसी प्रकार **'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** उपनिषद् वाक्य में घञन्त आनन्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है ।[2]

अत्र हम पूर्व निर्दिष्ट प्रयोगों के बारे में विचार करते हैं—

अहोरात्राणि—**रात्राह्नाहाः पुंसि** (२।४।२९) यह नियम प्रायिक है । इस सूत्र द्वारा पुंल्लिङ्ग प्रतिपादित शब्द वामन के मत में नपुंसकलिङ्ग हैं । अतः हेमचन्द्र लिखता है—

पञ्चरात्रः पञ्चरात्रम्, षड्रात्रः षड्रात्रम्, सप्तरात्रः सप्तरात्रम् । पुंस्त्वे रात्राह्नौ इति सूत्रम्, षण्ढे वामनः ।······अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः अहोरात्रम् । पुंसि हर्षः क्लीबे वामनः । हैम लिङ्गा० पुन्नपुंसक, कारिका ७ का विवरण, पृष्ठ ११७ ।

अर्थात्—पञ्चरात्र आदि शब्दों के पुंल्लिङ्गत्व में **रात्राह्नौ** सूत्र प्रमाण है, नपुंसकत्व में वामन ।······अहन् और रात्रि का समाहार द्वन्द्व होने पर **अहोरात्रः अहोरात्रम्** दोनों प्रयोग होते हैं । पुंस्त्व में हर्ष[वर्धन] और नपुंसकत्व में वामन प्रमाण है ।

---

१. महाभाष्य में बहुधा पठित वचन ।
२. टीकाकारों ने इस आपत्ति से घबड़ाकर मत्वर्थीय अच् प्रत्यय की कल्पना की है, वह प्रसङ्गविपरीत होने से त्याज्य है ।

इस उद्धरण से इतना स्पष्ट है कि पाणिनीय लिङ्गानुशासन विहित लिङ्ग ही एकमात्र प्रमाण नहीं है। अन्य तन्त्रों से भी लिङ्ग परिज्ञान में साहाय्य लेना चाहिए। लिङ्ग विषय में अतिशय भिन्नता होने से ही लिङ्गानुशासन का प्रायिकत्व अथवा अशिष्यत्व माना जाता है।

इतना ही नहीं, **अहोरात्राणि** प्रयोग ऋग्वेद १०।१९०।२ में प्रयुक्त है। छान्दस् प्रयोग प्रमाण नहीं हो सकता, यह बात भी अनेकान्त है। हर्षवर्धन प्रोक्त लिङ्गानुशासन की व्याख्या करता हुआ पृथिवीश्वर लिखता है—

क्रतौ धर्मक्रतौ यज्ञे तत्साधने वर्तमानं धर्मं नपुंसकम्। यथा—तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋ० १०।९०।१६)। कारिका ३७ की व्याख्या।

अर्थ—क्रतु=यज्ञ और उसके साधन अर्थ में वर्तमान धर्म शब्द नपुंसक होता है। जैसे—**तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्** मन्त्र में।

हरदत्त धातुपाठ में अपठित क्षद धातु के आत्मनेपदित्व के निर्णय के लिए ब्राह्मणग्रन्थ को ही प्रमाणरूप से उपस्थित करता है। वह लिखता है—

क्षद······आत्मनेपदी चायम्, उक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्ते (१।१५) **इति बह्वृचब्राह्मणे प्रयोगात्**। पदमञ्जरी ३।२।१३५॥

अर्थात्—ऐतरेय ब्राह्मण (१।१५) में **क्षदन्ते** प्रयोग होने से क्षद आत्मनेपदी है।[1]

जिन्हें इतने से ही सन्तोष न हो वे वाल्मीकिप्रोक्त रामायण अयोध्या काण्ड १०६।२० का पाठ देखें—**अहोरात्राणि गच्छन्ति**। यहां स्पष्टलौकिक भाषा में भी नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग उपलब्ध होता है।

आकाशम्—आकाश घञ् प्रत्ययान्त होने से पुंल्लिङ्ग माना जाता है। परन्तु यह 'सम्बन्ध' शब्द के समान नपुंसकलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है। महाभारत आश्व २०।२४ का पाठ है—

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।

यहां 'आकाशम्' स्पष्ट नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त है।

बृहच्चासौ ग्राव च—बृहत् रूप नपुंसक का समझकर उक्त दोष दर्शाया गया है। वस्तुतः बृहत् शब्द दो प्रकार का है, एक औणादिक (२।८४) जिस में शतृवत् अतिदेश से नुम् और स्त्रीलिङ्ग में उगितश्च (४।१।६) से ङीष् प्रत्यय होता है। दूसरा बाहुलक से शतृवत् अभाव वाला। इसी प्रकार

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण के इसी प्रकरण के 'क्षदन्तः' 'क्षद' से शतृ भी देखा जाता है। अतः, हरदत्त का कथन प्रौढिवाद मात्र है।

'महत्' शब्द भी दो प्रकार का है। बृहत् और महत् के दो प्रकार होने में निम्न प्रमाण हैं—

यदि शतृवद् अतिदिष्ट ही बृहत्-महत् शब्द हों, तो उगितश्च से ङीप् हो ही जाएगा, पुनः गौरादि गण में बृहत् महत् का पाठ व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञापन करता है कि बृहत् महत् ऐसे स्वतन्त्र शब्द भी हैं, जिनमें शतृवदतिदेश नहीं होता। इन्हीं बृहत् महत् के स्त्रीलिङ्ग में गौरादि से ङीष् होकर **बृहती महती** प्रयोग बनते हैं। यद्यपि शतृवत् अतिदेश वाले शब्दों में भी षष्ठचर्थ में 'वति' होने से शप् के अभाव में नुम् नहीं होगा और स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय से बृहती महती शब्द ही बनेंगे, पुनरपि ङीप् के अनुदात्त होने से और शतृवद् अतिदेश के (बृहन् बृहन्तौ) नुम् निमित्तक होने से शतुरनुमो नद्यजादी (६।१।१७३) से ङीप् को उदात्तत्व प्राप्त नहीं था, उसके विधान के लिए बृहन्महतोरुपसंख्यानम् (६।१।१७३) वार्तिक है। कई लोग इस तत्त्व को न समझकर शतृवद् अतिदेश और उदात्तविधायक वार्तिक को देखकर गौरादि पाठ को प्रक्षिप्त कहते हैं[1], वे भूल करते हैं। यह भी इस मीमांसा से सिद्ध है।

एलदर्थौ— यह पद अग्नि और वायु का विशेषण है। इसका अर्थ है— **एतत्प्रयोजनौ**। अतः यहां विशेष्यवत् लिङ्ग विभक्ति युक्त है।

प्रतिपादितः (भावे)—**प्रतिपादितः** प्रयोग भाव में नहीं हैं, यहां कर्म में प्रत्यय है—**कार्यं इत्यर्थः प्रतिपादितः**। यहां अर्थ-अभिप्राय आदि योग्य साकांक्षपद अध्याहार्य है, यह जानना चाहिए।

इसी प्रकार ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १३१ पं० १७ में **स्थानभृत्यप्रबन्धं च** में प्रबन्ध शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त है। उसका साधुत्व महाभाष्यकार के (१।१।१) के **संबन्धमनुवर्तिष्यते** प्रयोग के अनुसार जानना चाहिए।

१५—अस्थान में समासान्त आदि कार्य तथा उनका अभाव

यजुर्वेदभाष्य में समास के अनेक ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जिनमें समास सम्बन्धी कार्य अस्थान में देखे जाते हैं अथवा उनका अभाव मिलता है। यथा—

सुगन्धि—यजुर्वेदभाष्य २।२२ के पदार्थ में **सुगन्ध्यादिगणयुक्तेन** और २।२५ के भावार्थ में **सुगन्ध्यादिगुणयुक्तानि** में सुगन्धि शब्द का प्रयोग सुगन्ध अर्थ में किया है (यह प्रयोग ग्रन्थकार द्वारा अनेक स्थानों में व्यवहृत

---

१. महाभाष्य टीकाकार कैयट आदि।

है)। **गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः** (५।४।१३५) के नियम से अच्छे गन्धवाले द्रव्य के लिए सुगन्धि शब्द का व्यवहार होता है। अतः गुणवाचक सुगन्धि शब्द में इकार का प्रयोग चिन्त्य है।

कर्ताकारयितारौ—यजुर्वेदभाष्य १।६ के पदार्थ में **कर्त्ताकारयितारौ** ६।११ के अन्वय में हे **यज्ञकर्ताकारयितारौ** तथा ३।१५ के भावार्थ में **मातापित्राचार्याणाम्** का प्रयोग उपलब्ध होता है। **आनङ् ऋतो द्वन्द्वे** (६।३।२५) इस आनङ् विधायक सूत्र में **'विद्यायोनिसंबन्ध'** की अनुवृत्ति है। विद्यायोनिसम्बन्ध के अभाव के कारण **कर्ताकारयितारौ** में आनङ् का प्रयोग चिन्त्य है। **मातापित्राचार्याणाम्** में यद्यपि तीनों शब्द विद्यायोनि सम्बन्धवाची हैं, तथापि ऋकारान्तों के द्वन्द्व में आनङ् का विधान होने से यहां आनङ् प्राप्त नहीं है, क्योंकि आचार्य पद ऋकारान्त नहीं है। इतना ही नहीं, जहां केवल विद्यासम्बन्धी अथवा केवल योनि-सम्बन्धी ऋकारान्त होते हैं, वहीं आनङ् होता है। **मातापित्राचार्याणाम्** में पूर्व दो पद योनि-सम्बन्धी हैं और अन्त्य पद विद्यासम्बन्धी।

समाधान—अब हम क्रमशः पूर्व आक्षेपों के उत्तर देते हैं—

सुगन्धि—हमारी अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार सु+गन्ध शब्दों के बहुव्रीहि समास में ५।४।१३५ से विहित समासान्त इकार द्वारा गन्धि(ह्रस्व इकारान्त)शब्द के सद्भाव का ज्ञापन होता है। इस प्रकार ज्ञापित ह्रस्व इकारान्त **गन्धि** शब्द **गन्ध अर्दने** (१०।१३२) स्वाथ णिजन्त से **अच इः**(उ० ४।१३९)सूत्र द्वारा इ प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। इसी गन्धि शब्द से तत्पुरुष समास में गुणवाचक और बहुव्रीहि में द्रव्यद्योतक उभयविध सुगन्धि प्रयोग अनायास निष्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रक्रिया के अनुसार दुर्गन्धि शब्द भी लोक में दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। इस तत्त्व को न समझकर वामन ने **दुर्गन्धिपदे इद्दुर्लभः** सूत्र द्वारा अति लोकप्रसिद्ध दुर्गन्धि पद को भी असाधु कहा है। सुगन्ध और दुर्गन्ध शब्द **गन्ध** धातु से अच् प्रत्यय से निष्पन्न होते हैं और सुगन्धि तथा दुर्गन्धि शब्द इ प्रत्यय से, यह भेद ध्यान में रखना चाहिए।

कर्त्ताकारयितारौ—आनङ् विधायक सूत्र में विद्यायोनिसम्बन्ध की अनुवृत्ति होने पर भी यह नियम प्रायिक है। अतः विद्यायोनिसम्बन्ध से अन्यत्र भी आनङ् हो सकता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (१।४।२) पर कहा है—

अनङ् आनङ्भ्यां चेति वक्तव्यम्। अनङ्-सुकृत। आनङ्-सुकृत्-दुष्कृतौ।

तुक् प्राप्नोति अनङ् आनङौ च। परत्वादनङानङौ स्याताम्। तुग्भवत्यन्त-रङ्गतः]।

अर्थात्—अनङ् और आनङ् से तुक् अन्तरङ्ग होने से प्रथम होता है, ऐसा कहना चाहिए। अनङ्-सुकृत्, यहां सुकृसु इस अवस्था में ऋकारान्त होने से अनङ् की भी प्राप्ति होती है और तुक् की भी। आनङ्-सुकृद्दुष्कृतौ, यहां सुकृ+दुष्कृ इस अवस्था में पूर्वपद को आनङ् की भी प्राप्ति होती है और तुक् की भी। परत्व से अनङ् आनङ् प्राप्त होते हैं। तुक् अन्तरङ्ग होने से प्रथम होता है [तत्पश्चात् ऋकारान्तत्व के नष्ट हो जाने के कारण अनङ् आनङ् नहीं होते]।

यहां प्रश्न होता है कि सुकृ+दुष्कृ समुदाय न विद्यासम्बन्धी है और न योनिसम्बन्धी। तब इसमें आनङ् की प्राप्ति ही कैसे हो सकती है। और यदि कथंचित् आनङ् की प्राप्ति न हो तो भाष्यकार का उक्त विप्रतिषेध और अन्तरङ्गता से तुक् का प्रथम विधान उपपन्न ही नहीं होगा। अतः भाष्यकार के इस निर्देश से स्पष्ट है कि आनङ् विधायक सूत्र में विद्यायोनि सम्बन्ध प्रायिक है। उस अवस्था में विना विद्यायोनिसम्बन्ध के भी क्वचित् आनङ् का दर्शन साधु होगा।

विशेष—महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने उक्त सीधा मार्ग न अपनाकर भाष्यकार के वचन को ही चिन्त्य=अशुद्ध कहा है। कैयट का अशेषशे-मुषीसम्पन्न भगवान् पतञ्जलि को मूर्ख बनाना, उसकी अपनी अज्ञता को ही प्रकट कर रहा है। नागेश भाष्यकार के वचन को तो चिन्त्य कहने का साहस नहीं करता, परन्तु उसने सुकृ+दुष्कृ को विद्यायोनिसम्बन्धियों का विशेषण मानकर भाष्यवचन की उपपत्ति दर्शाने का प्रयत्न किया है। यदि नागेश का यही अभिप्राय स्वीकार कर लिया जाए तो **कर्ताकारयितारौ** में भी आनङ् ठीक है। ये भी यजमान और ऋत्विक् रूप विद्यासम्बन्धियों के विशेषण बन सकते हैं। वस्तुतः नागेश का यह द्रविड़ प्राणायाम क्लिष्ट कल्पना मात्र है।

हमारी वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार आनङ् आदेश से दीर्घ आकारान्त माता पिता होता आदि स्वतन्त्र शब्दों की सत्ता का परिज्ञान होता है। तत् सदृश कर्ता भी दीर्घ आकारान्त स्वतन्त्र शब्द है। इस दीर्घ आकारान्त माता शब्द के सद्भाव का ज्ञापन **कारीषगन्धीमातः** में सम्प्रसारणविधायक **मातच्मातृकमातृषु** (६।१।१४) में श्रूयमाण **मातच्** आदेश में भी होता है। यह **मातच्** वस्तुतः दीर्घ आकारान्त माता का समास के कारण **गोस्त्रि**-

रुपसर्जनस्य (१।२।४८) नियम से विहित ह्रस्व रूप ही है।[1] इसी सिद्ध ह्रस्व रूप का आदेशरूप से निर्देश किया है। जिस प्रकार **माता** आकारान्त **मातृ** ऋकारान्त दो स्वतन्त्र शब्द हैं, उसी प्रकार अन्य ऋकारान्तों के विषय में भी जानना चाहिए।[2] माता-मातृ द्विविध स्वतन्त्र शब्दों के सद्भाव की प्रतीति महाभारत शान्ति० १२६।६ में प्रयुक्त **मातृपितृभ्याम्** और शान्ति० १३८।८४ तथा उद्योग. ६५।४५ में श्रूयमाण **मातृपितृवत्** उभयविध प्रयोगों से भी होती है। दो शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता अथवा आनङ् के प्रायिकत्व को स्वीकार न करने पर **मातृपितृभ्यां** और **मातृपितृवत्** प्रयोगों को असाधु मानना होगा, जो कि शिष्ट प्रयोग होने से सर्वथा अनवद्य हैं। इसी व्याख्या से पूर्व निर्दिष्ट **मातापित्राचार्याणाम्** प्रयोग का साधुत्व जान लेना चाहिए।

उपर्युक्त प्रक्रिया के अनुसार **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** (६।३।४६) सूत्र द्वारा विहित आत्व से महत् समानार्थक दीर्घान्त **महा** प्रकृत्यन्तर का भी ज्ञापन होता है। दीर्घ आकारान्त **महा** शब्द के द्वितीया के एकवचन का **महाम्** रूप वेद में असकृत् उपलब्ध होता है। उसी प्रकार एक **महान्** नान्त भी स्वतन्त्र शब्द है। इसके **महानाम् महानि** प्रयोग ऋक् तथा अथर्व में उपलब्ध होते हैं। इन दोनों (महा-महान्) में से किसी शब्द से भी षष्ठीसमास में **महादेव** शब्द उपपन्न हो जाता है। सत्यार्थप्रकाश में पठित **महतां देवः** प्रयोग इसी प्रक्रिया से साधु है अर्थात् अविरविकन्याय[3] से विग्रह महत् तान्त से दर्शाया है और समास **महा** अथवा महान् से। अतः **महतां देवः** विग्रह में आत्व प्राप्ति के अभावरूप दोष का उद्भाव सर्वथा चिन्त्य है।[4] इसी प्रक्रियानुसार आदि षष्ठीसमास के **महाघासः महाकारः** आदि

---

१ तुलना करो—'मातृक' शब्द से। यह कृतसमासान्त रूप निर्दिष्ट है।

२. कर्तृ मातृ पितृ आदि की जो रूपमाला है उसमें न्यूनातिन्यून तीन तीन शब्दों का समन्वय है—कर्त्ता, कर्त्तार्, कर्तृ; पिता, पितर्, पितृ। अत एव 'पितरस्तर्पयामि' आदि में द्वितीया बहुवचन में अनुक्त 'अर्' रूप भी उपपन्न हो जाता है। द्र० संस्कृत व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २६।

३. तत्र द्वयोः समानार्थयोरेकेन विग्रहोऽपरस्मादुत्पत्तिर्भविष्यति अविरविकन्यायेन। तद्यथा अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति आविकमिति। महाभाष्य ४।१।८८; ४।२।६०, १३१ आदि।

४. आत्व अप्राप्ति दोष की निवृत्ति के लिए श्री स्वामी वेदानन्द जी ने स्वसम्पादित सत्यार्थप्रकाश में 'महतां देवानां देवः' पाठान्तर किया है। इसमें 'न निर्धारणे' (२।२।१०) नियम से समासप्रतिषेध रूप नया दोष उपस्थित हो जाता है। और एक देव शब्द का अप्राप्त लोप भी स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' आभाणक की प्राप्ति होती है।

प्रयोगों के लिए उपसंख्यान की भी आवश्यकता नहीं रहती। अत एव जहां वस्तुतः तान्त **महत्** शब्द से समास होता है, वहां आत्त्वरहित प्रयोग ही बनता है। संस्कृत वाङ्मय में ऐसे प्रयोग भी सुरक्षित हैं। यथा—

महदावासाः। रामा० बाल० १३।१२॥

सुमहत्पर्वतोपमान्। रामा० बाल० १।४०।८॥

टीकाकारों ने यहां आर्षत्वात् आत्त्वाभाव दर्शाया है। हमारी प्रक्रियानुसार आर्षत्व हेतु की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। इस विमर्श से स्पष्ट है कि **महत् महा महान्** तीन स्वतन्त्र शब्द हैं।

१६—भावविशिष्ट अर्थ में मूल प्रातिपदिक का प्रयोग

वेदभाष्य आदि ग्रन्थों में भाव अर्थ में विना भावप्रत्यय के भी मूल प्रातिपदिक का अनेक स्थानों पर प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—

शुद्धये बलपराक्रमाय दृढाय दीर्घायुषे च—यजुर्भाष्य १।२० के भावार्थ में **दार्ढ्याय** के स्थान में **दृढाय** प्रयोग किया है।[1]

इसी प्रकार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के आरम्भ में **ईश्वरस्य सहायेन** तथा वेदभाष्य सम्बन्धी विज्ञापन में **यथाशक्त्या सहायः कार्यः** पाठ में साहाय्य अर्थ में भाव-प्रत्यय-रहित **सहाय** प्रातिपदिक मात्र का प्रयोग मिलता है।

समाधान—वक्ता जब किसी शब्द का प्रयोग गुणप्रधान निर्देश की विवक्षा से करता है, तब विना भावप्रत्यय के भी भावार्थ जाना जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने १।४।२१ पर कहा है—

यत्तावदुच्यते नह्यन्तरेण भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देश इति। [तन्न] अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः।.......... पटस्य शुक्लः.........।

अर्थात्—जो यह कहा जाता है कि नहीं होता विना भाव प्रत्यय के गुणप्रधान निर्देश। [यह ठीक नहीं,] विना भी भावप्रत्यय के गुणप्रधान निर्देश होता है। यथा—**पटस्य शुक्लः** अर्थात् कपड़े का शुक्लपना।

विना भावप्रत्यय के भी भावार्थ को कहने की शक्ति प्रातिपदिक में उसी प्रकार निहित होती है, जिस प्रकार अन्तर्भावितण्यर्थ धातुओं में विना हेत्वर्थक णिच् के विद्यमान होती है।

इस नियम और भाष्यकार के निर्देश से **दार्ढ्य** के अर्थ में **दृढाय** और साहाय्य के अर्थ में **सहाय** प्रयोग सर्वथा निर्दोष हैं।

---

१. आचार्यवर ने क्लिष्टता परिहारार्थ तथा हिन्दी के अनुसार भ्रामप्राय व्यक्त करने के लिए अपने विवरणयुक्त संस्करण में समस्त 'दीर्घायुषे' पद को 'दृढाय दीर्घा [या] युषे' इस प्रकार असमस्त दर्शाया है।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त कतिपय शब्दों के साधुत्व की जो विस्तृत मीमांसा की है, उससे स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य अथवा अन्य संस्कृत निबद्ध ग्रन्थ अथवा पत्रों में प्रयुक्त जिन पदों को साम्प्रतिक वैयाकरण असाधु समझते हैं, वे सब शास्त्रानुकूल सर्वथा साधु हैं, प्राचीन शिष्ट पुरुषों द्वारा अनुमोदित हैं। उनको असाधु समझना अथवा कहना संस्कृतभाषा और उसके व्याकरण शास्त्र के मर्म के प्रति अपने अज्ञान को प्रकट करना मात्र है। अत एव वेद कहता है—

पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः। ऋ० १।१६४।१६॥

अर्थात्—कृतभूरि परिश्रम शास्त्रचक्षु पुरुष ही शास्त्र के मर्म को जान सकता है, अन्य नहीं।

अन्यत्र भी कहा है—

सन्तः समीक्ष्येतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।

अर्थात्—ज्ञानी साधु असाधु की समीक्षा=आलोचना=विमर्श करके साधु पक्ष को स्वीकार करता है, परन्तु मूढ़ परप्रत्ययनेयबुद्धि=विना विचारे दूसरों के पीछे चलने वाले होते हैं।

इस प्रकार हमने महाभाष्यकार पतञ्जलि आदि प्राचीन प्रामाणिक वैयाकरणों द्वारा संकेतित अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार विना किसी क्लिष्ट कल्पना के महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में प्रयुक्त कतिपय असाधु समझे जाने वाले समस्त शब्दों का साधुत्व दर्शाने का प्रयत्न किया है। हमारी इस वैज्ञानिक प्रक्रिया से न केवल महर्षि के इतने ही शब्द, अपितु उनके वाङ्मय में प्रयुक्त अन्य सभी शब्दों और प्राचीन आर्षवाङ्मय में प्रयुक्त सहस्रों शब्दों के साधुत्व का परिज्ञान अनायास हो जाता है। महर्षि वाल्मीकि, कृष्ण द्वैपायन, पाणिनि और पतञ्जलि आदि परम प्रामाणिक शिष्ट आचार्य अपने अन्य ग्रन्थों में अपशब्दों का प्रयोग करेंगे, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसी अवस्था में इन महर्षियों के प्रयोगों के साधुत्व के लिए जो भी मार्ग अपनाया जाएगा, उसी मार्ग से ऋषि दयानन्द के असाधु समझे जाने वाले प्रयोगों का साधुत्व भी व्यवस्थापित हो जाएगा।

आशा है विद्वन्महानुभाव अष्टाध्यायी की हमारे द्वारा प्रदर्शित वैज्ञानिक प्रक्रिया पर मनन करेंगे, इसका लाभ समझने का प्रयत्न करेंगे और इस अमोघ शस्त्ररूप वैज्ञानिक प्रक्रिया को अपनाकर पाश्चात्य काल्पनिक भाषामत का मान-मर्दन करके देवी सुरभारती को पुनः अपने प्राचीन गौरव-

मय आसन पर आसीन करावेंगे, जहां से ईसाई और यहूदी मत के पक्षपात के कारण पाश्चात्य विद्वानों ने इसे नीचे गिराने की चेष्टा की है।

इतने पर भी जो मनुष्य आग्रही होता है, सत्य को ग्रहण करना नहीं चाहता, उसे ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकता, मादृश अल्पज्ञ की तो शक्ति ही क्या। अस्तु।

अन्त में हम भवभूति के शब्दों में इस प्रकरण को समाप्त करते हैं—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमहावैयाकरणब्रह्मदत्तशङ्करदेवाचार्याणां शिष्येण
पाणिनीय-कातन्त्र-चान्द्र-जैनेन्द्र-शाकटायन-हैमादिविविधतन्त्रज्ञेन
सारस्वतकुलप्रसूतेन भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
गौरीलालात्मजेन यमुनादेवीतनूद्भवेन
युधिष्ठिर मीमांसकेन
विरचितोऽपाणिनीयपदविमर्शः समाप्तः
शुभं भूयात् लेखकपाठकयोः॥

परिवर्धन

१—पृष्ठ ९, पं० २, ११, १३, १७ पर निर्दिष्ट गृह धातु के सम्बन्ध में—

आचार्य हेमहंसगणि ने अपने न्याय संग्रह की व्याख्या में गृह स्वतन्त्र धातु मानी है। वह लिखता है—गृहौङ् ग्रहणे औदित्वाद्वेटि गढी गर्हिता।...के गृहम् गृहाः। पृष्ठ १४९।

२—पृष्ठ १३ पं० २० के आगे—

लोप आगम आदि द्वारा निर्दिष्ट प्रकृत्यन्तर सद्भाव में महर्षि दयानन्द की सम्मति—लोप आगम आदेश आदि की वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार वैयाकरण आचार्यों ने विलुप्त प्रकृत्यन्तरों का निर्देश किया है,

है, इस विषय में भगवान् पतञ्जलि की सम्मति पृष्ठ ६ पर उद्धृत कर चुके हैं। अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा प्रकृत्यन्तर कल्पना महर्षि दयानन्द को भी इष्ट है। उन्होंने नञ् समास घटित शब्दों में अ को स्वतन्त्र अव्यय माना है। अव्ययार्थ में अ अव्यय पर लिखते हैं—

अ=अभावे। अराजकेतु लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुतैभयात्। (मनु ७। ३)।

वैयाकरणों के नियमानुसार न+राजके=अराजके में **न लोपो नञः** (अ० ६।२।७१) से नकार का लोप होकर अ शेष रहता है।

पदकार गार्ग्य द्वारा अनुमोदन—आचार्य गार्ग्य ने साम के पदपाठ में नञ्समास घटित पदों में अ को अवग्रह द्वारा स्वतन्त्र पदरूप में दर्शाया है। यथा—**अरातेः अ रातेः** (१।१।१।६), **अमित्रम् अ मित्रम्** (१।१।२।१), **अमृतम् अ मृतम्** (१।१।४।१)॥

हमारे पास साम का सम्पूर्ण पदपाठ इस समय नहीं है। परन्तु हमें स्मरण है कि आचार्य गार्ग्य ने अजाद्युत्तर पद में नञ् के न का लोप और नुट् का आगम। तस्मान्नुडचि (६।३।७३) द्वारा विहित अन् भाव को भी अवग्रह द्वारा स्वतन्त्र पदरूप में दर्शाया है।

३—पृष्ठ ३२, पं० ३४ में **प्रापयित्वा** के आगे पढ़ें—

यजुर्वेदभाष्य २।१४ के भावार्थ में **आनन्दयित्वा,**

४—पृष्ठ ४६, टि० १ के अन्त में

इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते-परिमृजन्ति परिमार्जन्ति···। तदिहापि साध्यम् (महा० १।१।३) वचन द्वारा भगवान् पतञ्जलि ने अन्य वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट पदों को पाणिनीय शास्त्र द्वारा भी साध्य माना है। आधुनिक वैयाकरण पाणिनि द्वारा साक्षात् स्मृत आचार्य द्वारा निर्दिष्ट पदों को अपशब्द कहते हैं। पाठकगण इस विषय में गम्भीरता से विचार करें।

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित वा प्रसारित

कुछ इतिहास-दर्शन-आयुर्वेद-विषयक-ग्रन्थ

१. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—इसमें ऋ० द० के सभी ग्रन्थों का विशद इतिहास दिया गया है। परिशिष्ट में पाण्डुलिपियों तथा अमुद्रित ग्रन्थों का विवरण है। लेखक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ४०.००

२. विरजानन्द-प्रकाश—लेखक—पं० भीमसेन शास्त्री। ८.००

३. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित—सम्पादक—पं० भगवद्दत्त। ३.००

४. आत्म-परिचय—पं० युधिष्ठिर मीमांसक के वंश-परिचय एवं पूर्वज परिचय सहित। १००.००

५. मीमांसा-शाबर-भाष्य—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी व्याख्यासहित। व्याख्याकार—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग ६०.००, द्वितीय भाग ५०.००, तृतीय भाग ५०.००, चौथा भाग ४०.००, पांचवां भाग ५०.००, छठा भाग ५०.००, सातवां भाग ५०.००।

६. मीमांसा-दर्शनम्—शाबरभाष्य सहितम्। अन्तेऽनेकपरिशिष्ट-समन्वितम्। प्रथम भाग (३ अध्याय) ६०.००

७. प्रपञ्चहृदयम्-प्रस्थानभेदौ—(संस्कृत) प्रथम अनिर्ज्ञातकर्तृक 'प्रपञ्चहृदय' में वैदिक वाङ्मय का संक्षिप्त-सारगर्भित परिचय, द्वितीय मधुसूदन सरस्वती कृत 'प्रस्थानभेद' में ६ दर्शनों का परिचय है। २४.००

८. नाड़ीतत्त्वदर्शनम्—(संस्कृत हिन्दी) पं० सत्यदेव वासिष्ठ। नाडीविषयक सम्पूर्ण ग्रन्थ। ६०.००

९. चिकित्सा आलोक—श्रीकृष्णदेव चैतन्य पराशर। ४०.००

१०. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास—इस में पाणिनि से प्राचीन २३ वैयाकरणों, पाणिनि तथा उससे उत्तरवर्ती १८ वैयाकरणों, उन पर टीका टिप्पणी लिखने वाले १०० से अधिक व्याख्याताओं का इतिहास लिखा है। लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। तीनों भाग १५०.००

११. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—प्रथम दो भाग में ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन हैं। तीसरे-चौथे भाग में विविध व्यक्तियों द्वारा ऋ० द० को भेजे गये पत्रों का संग्रह है। चारों भाग १४०.००

१२. ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन— ५०.००

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, [सोनीपत हरियाणा] १३१०२१

रामलाल कपूर एण्ड सन्स, २५६६, नई सड़क, दिल्ली